CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

स्थापित जुलाई 1988

ISSN No. 0971-796X

प्राकृतविद्या

वर्ष 37, अंक 4

अक्टूबर-दिसम्बर 2024 ई.

सम्राट् खारवेल शिलालेख, उत्कल (उड़ीसा)

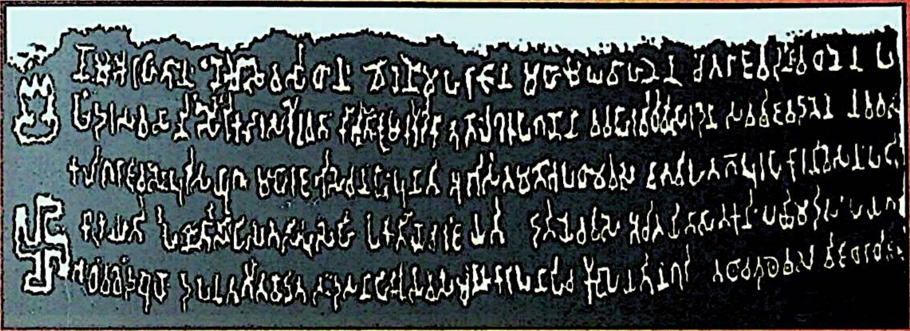

लिपि ब्राह्मी, भाषा औड्रमागधी, समय ई.पू. दूसरी शताब्दी

King Mahameghevahana Kharvela of Kalinga and his Jaina council held at Udayagiri in the 13th year of his reign (2nd Century B.C.)

(89th Inter-Parliamentary Conference), 1979

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

निर्यापक पट्टाचार्य परमपूज्य आचार्य श्री श्रुतसागरजी मुनिराज के सान्निध्य में सम्पन्न हुए 'श्रीमद् जिनेन्द्र जिनबिम्ब पंचकल्याणक प्रतिष्ठा महोत्सव', छोटा बाजार, शाहदरा, दिल्ली की झलकियाँ

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

UGC Approved Research Journal

ISSN No. 0971-796 X

प्राकृत-विद्या
पागद-विज्जा

PRAKRIT-VIDYA
Pāgada-Vijjā

प्राकृत, अपभ्रंश आदि प्राच्य भारतीय भाषाओं की हिन्दी तक की विकास-यात्रा दर्शानेवाली समीक्षित त्रैमासिकी शोध-पत्रिका

A quarterly reviewed research journal devoted to the development of Prakrit, Apabhramsha and Ancient Indian Languages upto Hindi Language

वीर निर्वाण संवत् 2551 अक्टूबर-दिसम्बर 2024 वर्ष 37 अंक 4

Veer Nirvan Samvat 2551 October-December 2024 Year 37 Issue 4

आचार्य कुन्दकुन्द समाधि-संवत् 2026

सम्पादक-मण्डल

श्री पुनीत जैन
(नवभारत टाइम्स)

प्रो. (डॉ.) रमेश कुमार पाण्डेय
(श्री ला.ब.शा.रा. संस्कृत विश्वविद्यालय)

सम्पादक (मानद)

प्रो. (डॉ.) वीरसागर जैन
(श्री लाल बहादुर शास्त्री राष्ट्रिय संस्कृत विश्वविद्यालय, नई दिल्ली)

प्रवन्ध सम्पादक

श्री राजेन्द्र जैन (संघपति)

प्रकाशक
श्री अनिल कुमार जैन
महामन्त्री
श्री कुन्दकुन्द भारती ट्रस्ट
18-बी, स्पेशल इन्स्टीट्यूशनल एरिया,
नई दिल्ली-110067
फोन : (011) 46062191-92
ई-मेल: kundkundbharti@gmail.com
वेबसाईट: www.kundkundbharti.org

Publisher
SHRI ANIL KUMAR JAIN
Secretary
Shri Kundkund Bharti Trust
18-B, Special Institutional Area
New Delhi-110067
Phone: (011) 46062191-92
E-mail: kundkundbharti@gmail.com
Website: www.kundkundbharti.org

इस प्रति का मूल्य—बीस रुपया

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

अनुक्रम

क्र.सं.	शीर्षक	लेखक	पृ.सं.
1.	मंगलाचरण : प्राकृत सिद्ध पूजा	आचार्य नेमिचन्द्र	3
2.	सम्पादकीय : खारवेल शिलालेख का दार्शनिक अध्ययन	प्रो. वीरसागर जैन	5
3.	भक्ति में मुक्ति का अंकुर है	आचार्य विद्यानन्द मुनिराज	8
4.	जैन योग में श्रमण मुनि	आचार्य श्रुतसागर मुनिराज	15
5.	अनेकान्त की व्यापकता	प्रो. दयानन्द भार्गव	19
6.	क्या गौतम बुद्ध महावीर स्वामी के शिष्य थे?	प्रो. रमेश चन्द जैन	28
7.	तीर्थंकर महावीर की आत्मकथा	प्रो. अनेकांत कुमार जैन	30
8.	कविवर दौलतराम की भक्ति-भावना	डॉ. नेमचंद जैन	41
9.	अपभ्रंश-प्राकृत-जैनग्रन्थ वित्तसार में भारतीय दण्ड संहिता	डॉ. शान्तिसागर शिरहट्टि	48
10.	विविध प्राकृत भाषाओं का वैशिष्ट्य	डॉ. इन्दु जैन	55
11.	क्षायिक सम्यक्त्व का स्वामित्व	डॉ. ऋषभ जैन	64
12.	भगवान महावीर के सिद्धान्तों की प्रासंगिकता	डॉ. शुद्धात्मप्रकाश जैन	78
13.	जैनदर्शन के परिप्रेक्ष्य में 'समाचार' एवं 'पत्रकारिता'	डॉ. अंकुर जैन	83
14.	नागकुमारचरित्रम् में वर्णित श्रावकधर्म	ईर्या जैन	88
15.	समाचार-दर्शन		94

केंद्र सरकार द्वारा प्राकृत भाषा शास्त्रीय भाषा घोषित

प्राकृत भाषा भारत की एक प्राचीन भाषा है जिससे भारत की अन्यान्य भाषाओं और बोलियों का जन्म हुआ है। इस भाषा में हजारों की संख्या में जैन आगम लिखे गए जो लगभग 2000 वर्ष से भी ज्यादा प्राचीन हैं। प्राकृत भाषा के विद्वानों की पिछले कई दशकों से माँग थी कि इसे शास्त्रीय भाषा का दर्जा सरकार द्वारा दिया जाय, ताकि इस भाषा का संरक्षण और संवर्धन किया जा सके। उनके इस अनुरोध को स्वीकारते हुए भारत सरकार ने प्राकृत भाषा को शास्त्रीय दर्जा प्रदान करने की घोषणा दिनाँक 3.10.24 को कर दी है।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

मंगलाचरण

प्राकृत सिद्ध पूजा

—आचार्य नेमिचन्द्र

गंगादितित्थप्पहदप्पएहिं सग्गंधदा णिम्मलदापएहिं।
अच्चेमि णिच्चं परमट्ठसिद्धे सव्वट्ठसंपादय सव्वसिद्धे॥ 1॥

अर्थ– गंगादि तीर्थस्थानों से पैदल (चलकर) लाए हुए सुगन्धित व निर्मल जल से मैं परम (उच्चतम) उद्देश्य को प्राप्त, सब हितों को पूरा करनेवाले सब सिद्धों की नित्य पूजा करता हूँ।

गंधेहिं घाणाण सुहप्पएहिं समच्चयाणं पि सुहप्पएहिं।
अच्चेमि णिच्चं परमट्ठसिद्धे सव्वट्ठसंपादय सव्वसिद्धे॥ 2॥

अर्थ– नासिका के लिए सुखप्रद चन्दन से तथा सभी पूजकों के लिए भी सुखप्रद होने के कारण मैं परम (उच्चतम) उद्देश्य को प्राप्त, सब हितों को पूरा करनेवाले सब सिद्धों की नित्य पूजा करता हूँ।

पेरंतछोणीसियकारणेहिं वरक्खएहिं सियकारणेहिं।
अच्चेमि णिच्चं परमट्ठसिद्धे सव्वट्ठसंपादय सव्वसिद्धे॥ 3॥

अर्थ– पृथ्वी-पर्यन्त कल्याण के साधन तथा मोक्ष के हेतु श्रेष्ठ चावलों से मैं परम (उच्चतम) उद्देश्य को प्राप्त, सब हितों को पूरा करनेवाले सब सिद्धों की नित्य पूजा करता हूँ।

पुप्फेहि दिव्वेहि सुवण्णएहिं कव्वे कईसेहिं सुवण्णएहिं।
अच्चेमि णिच्चं परमट्ठसिद्धे सव्वट्ठसंपादय सव्वसिद्धे॥ 4॥

अर्थ– श्रेष्ठ कवियों द्वारा काव्य में मनोहर शब्दों से जिनका वर्णन किया गया है ऐसे उत्तम रंगवाले दिव्य पुष्पों से मैं परम (उच्चतम) उद्देश्य को प्राप्त, सब हितों को पूरा करनेवाले सब सिद्धों की नित्य पूजा करता हूँ।

बब्भेहि णाणासुरसप्पएहिं भव्वाण णाणासुरसप्पएहिं।
अच्चेमि णिच्चं परमट्ठसिद्धे सव्वट्ठसंपादय सव्वसिद्धे॥ 5॥

अर्थ– नाना प्रकार के उत्तम स्वाद प्रदान करनेवाले व्यंजनों से जो भव्यों के

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

लिए भी नाना प्रकार के स्वाद प्रदान करनेवाले हैं (ऐसे व्यंजनों से) मैं परम (उच्चतम) उद्देश्य को प्राप्त, सब हितों को पूरा करनेवाले सब सिद्धों की नित्य पूजा करता हूँ।

देदिव्वमाणप्पहदीवएहिं संवूयआणं सिरिदीवएहिं।
अच्चेमि णिच्चं परमट्ठसिद्धे सव्वट्ठसंपादय सव्वसिद्धे॥ 6॥

अर्थ– जगमगाते हुए प्रकाश के दीपकों से जो उत्तम पूजकों के लिए समृद्धिरूपी दीपक हैं, (ऐसे दीपकों से) मैं परम (उच्चतम) उद्देश्य को प्राप्त, सब हितों को पूरा करनेवाले सब सिद्धों की नित्य पूजा करता हूँ।

कालागरुभूयसुधूवएहिं जीवाण पावाण सुधूवएहिं।
अच्चेमि णिच्चं परमट्ठसिद्धे सव्वट्ठसंपादय सव्वसिद्धे॥ 7॥

अर्थ– काले चन्दन से उत्पन्न सुन्दर धूप से जीवों के पापों को भलीप्रकार से हटाया गया है। इस कारण मैं ऐसी सुन्दर धूप से परम (उच्चतम) उद्देश्य को प्राप्त, सब हितों को पूरा करनेवाले सब सिद्धों की पूजा करता हूँ।

अणग्घभूएहिं फलव्वएहिं भवस्स संदिण्ण फलव्वएहिं।
अच्चेमि णिच्चं परमट्ठसिद्धे सव्वट्ठसंपादय सव्वसिद्धे॥ 8॥

अर्थ– कर्मनाशक बने हुए फल-समूह से जो भव्य के लिए भली प्रकार से दिया गया है, ऐसे फल-समूह से मैं परम (उच्चतम) उद्देश्य को प्राप्त, सब हितों को पूरा करनेवाले सब सिद्धों की नित्य पूजा करता हूँ।

ण एव णाणेण य दंसणेण तवेण उग्गेण य संजमेण।
सिद्धे तियाले सुविसुद्धबुद्धे समग्घयामो सयले विसुद्धे॥
अच्चेमि णिच्चं परमट्ठसिद्धे सव्वट्ठसंपादय सव्वसिद्धे॥ 9॥

अर्थ– न ही (मात्र) ज्ञान से और दर्शन से (न ही) (मात्र) उग्र तप से और (न ही) (मात्र) संयम से (सिद्धि प्राप्त होती है); (इसलिए) पूजा-भक्ति करके पूर्णरूप से निष्कलंक, पूर्णतया शुद्ध, जागरूक तथा त्रिकाल सिद्धों को हम भली प्रकार से अर्घ्य चढ़ाते हैं।

मैं परम (उच्चतम) उद्देश्य को प्राप्त, सब हितों को पूरा करनेवाले सब सिद्धों की पूजा करता हूँ। –(आचार्य विद्यानन्द मुनिराज की कृति 'भक्ति-सुधा' से साभार)

❖❖

शक्तो न कोऽपि भवितव्यविलंघनायाम्।
भवितव्यता का कोई उल्लंघन नहीं कर सकता। –कल्हण (राजतरंगिणी, 8/2280)

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

सम्पादकीय

खारवेल-शिलालेख का दार्शनिक अध्ययन

—प्रो. वीरसागर जैन

कलिंग-चक्रवर्ती, महामेघवाहन सम्राट् खारवेल के हाथी-गुफा-शिलालेख का अनेक दृष्टियों से अध्ययन किया जाता है, किन्तु यहाँ हम उसका दार्शनिक दृष्टि से अध्ययन करना चाहते हैं, उसमें निहित दार्शनिक तत्त्वों के अन्वेषण का संक्षिप्त प्रयास करना चाहते हैं।

शिलालेखों का अध्ययन अधिकांशतः इतिहास एवं राजनीति की दृष्टि से किया जाता है, किन्तु यहाँ हमारी भावना है कि दर्शनशास्त्र की दृष्टि से भी उनके अध्ययन का अभियान चलना चाहिए। स्व-पर-कल्याण-हेतु यह दृष्टि कुछ अधिक उपयोगी सिद्ध हो सकती है। इतिहास और राजनीति वाली दृष्टि कभी-कभी कषाय उत्पन्न करने लगती है। वैसे भी मैं दर्शनशास्त्र का विद्यार्थी हूँ और हर विषय को उसी दृष्टि से देखने का अभ्यास हो गया है, अतः यहाँ भी मैंने सम्राट् खारवेल के सुप्रसिद्ध शिलालेख को दार्शनिक दृष्टि से देखने का प्रयास किया है।

सम्राट् खारवेल के इस 17 पंक्तियों के शिलालेख में मुझे दार्शनिक दृष्टि से निम्नलिखित सात पंक्तियाँ और उनमें प्रयुक्त निम्नलिखित शब्द विशेष महत्त्वपूर्ण प्रतीत हुए हैं—

पंक्ति-संख्या-1	नमो अरहंतानं नमो सवसिद्धानं...
पंक्ति-संख्या-9	अरहतो ....
पंक्ति-सख्या-12	नंदराजनीतं च कलिंगजिनं संनिवेसं..
पंक्ति-संख्या-14	पूजावरतउवास खारवेलसिरिना जीवदेहसिरिका परिखिता।
पंक्ति-संख्या-15	समण सुविहितानं च सत दिसानं ञानिनं तपसि इसिनं संघियनं
पंक्ति-संख्या-16	चोयठि अंग सतिकं तुरियं उपादयति.... पसंतो सुनंतो अनुभवंतो
पंक्ति-संख्या-17	सबपाखंडपूजको सबदेवायतनसंकारकारको............................ ।

इनमें भी पंक्ति-संख्या 1 दार्शनिक दृष्टि से सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण प्रतीत होती है। इसमें जैनदर्शन के सुप्रसिद्ध महामन्त्र 'णमोकार' के प्रारम्भिक दो पद स्पष्ट रूप से लिखे हुए हैं, जिनमें अरिहन्त और सिद्ध परमेष्ठी को नमस्कार किया गया

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

है। अरिहन्त और सिद्ध— इन दो शब्दों में सम्पूर्ण जैनदर्शन समाहित हो जाता है। आचार्य कुन्दकुन्द ने तो 'अरिहंत' के विषय में यहाँ तक लिखा है कि–

"जो जाणदि अरिहंतं दव्वत्तगुणत्तपज्जयत्तेहिं।
सो जाणदि अप्पाणं मोहो खलु जादि तस्स लयं॥"[1]

अर्थ– जो द्रव्य-गुण-पर्याय से अरिहंत को जानता है वह आत्मा को भी जान लेता है और उसका मोह निश्चय से नष्ट हो जाता है।

इसप्रकार हम देखते हैं कि 'अरिहंत' जैनदर्शन का एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण शब्द है और उसके अन्दर जैनदर्शन की समूची अवधारणा समाहित हो जाती है। यही कारण है कि जैनदर्शन को 'अरिहंत-दर्शन' के नाम से भी अभिहित किया जाता है। 'अरहंत' शब्द का प्रयोग इस शिलालेख की पंक्ति 4, 9, 15 में भी हुआ है।

'अरहंत' की भाँति 'सिद्ध' शब्द भी जैनदर्शन का अत्यधिक महत्त्वपूर्ण शब्द है। घातिकर्म रहित सशरीरी परमात्मा को 'अरहंत' और सर्व कर्म रहित अशरीरी परमात्मा को 'सिद्ध' कहते हैं। अरहंत जीवनमुक्त हैं और सिद्ध देहमुक्त हैं, अतः 'सिद्ध' शब्द में मोक्ष की सम्पूर्ण अवधारणा समाहित हो जाती है।

यदि हम 'अरिहंत' और 'सिद्ध'– इन दो शब्दों का ही भलीभाँति सर्वांग अध्ययन करें तो सम्भवतः दर्शनशास्त्र की सम्पूर्ण तत्त्वमीमांसा स्पष्ट हो जाती है।

तत्त्वमीमांसा ही नहीं, आचारमीमांसा की दृष्टि से भी खारवेल का यह शिलालेख बड़ा ही महत्त्वपूर्ण सिद्ध होता है। इसकी पंक्ति-संख्या 14 में पाप, व्रत, पूजा और उपवास– इन 4 आचारशास्त्रीय शब्दों का स्पष्ट प्रयोग हुआ है। ये सब आचारशास्त्र के ही प्रमुख परिभाषिक शब्द हैं, जिन्हें जैनदर्शन के रत्नकरण्ड श्रावकाचार (आचार्य समन्तभद्र), पुरुषार्थसिद्ध्युपाय (आचार्य अमृतचन्द्र) आदि सभी आचार-ग्रन्थों में विस्तारपूर्वक समझाया गया है। आचार्य उमास्वामी के 'तत्त्वार्थसूत्र' में भी इसे इसप्रकार कहा है कि–

'हिंसानृतस्तेयाब्रह्मपरिग्रहेभ्यो विरतिर्व्रतम्।'[2]

जैनाचारशास्त्र के ग्रन्थों में धर्म और धर्मायतनों की रक्षा और प्रभावना का भी उपदेश पाया जाता है। खारवेल-शिलालेख की पंक्ति-संख्या 12-13 में आया हुआ कलिंग-जिन मूर्ति की रक्षा का प्रसंग उसी उपदेश का परिपालन सिद्ध होता है। सम्राट् खारवेल ने उसी उपदेश से प्रेरित होकर कलिंग-जिन की मूर्ति को राजा नन्द से वापिस लाकर उसे गगनचुंबी मंदिर बनाकर उसमें स्थापित/प्रतिष्ठापित किया। मंदिर बनाने वाले कारीगरों को बड़ी जागीरें भी प्रदान कीं।

जैनाचार-मीमांसा दो रूपों में विभाजित है– गृहस्थाचार और श्रमणाचार।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

खारवेल-शिलालेख में न केवल उक्त प्रकार से गृहस्थाचार का चित्रण है, अपितु थोड़ा-बहुत श्रमणाचार का भी चित्रण उसमें उपलब्ध होता है। पंक्ति-संख्या 15 में 'श्रमण' (समण) शब्द का तो स्पष्ट प्रयोग हुआ ही है, किन्तु 'ज्ञानी' (ञानिनं), 'तपस्वी' (तपसि), 'ऋषि' (इसिनं), 'संघी' (संघियन) आदि शब्दों का भी प्रयोग हुआ है जो श्रमणों के ही विविध रूप या प्रकार हैं।

श्रमणों के नाम या प्रकार जैन-ग्रन्थों में इस प्रकार बतलाए गये हैं–

"समणोत्ति संजदोत्ति य रिसि मुणि साधुत्ति वीदरागो त्ति।
णामाणि सुविहिदाणं अणगार भदंत दंतो त्ति॥"[3]

अर्थ– श्रमण, संयत, ऋषि, मुनि, साधु, वीतराग, अनगार, भदंत, दंत, यति– ये सब साधु के नाम हैं।

जैनदर्शन की तत्त्वमीमांसा और आचारमीमांसा के अतिरिक्त इस शिलालेख में जैन-अध्यात्म का भी सुन्दर चित्रण हुआ है। इसकी पंक्ति-संख्या 14 में जीव और देह के भेद-विज्ञान (परीक्षा) का कथन किया गया है जो जैन-अध्यात्म का केन्द्रिय या सारभूत प्रतिपाद्य है। आचार्य कुन्दकुन्द ने अपने समयसारादि ग्रन्थों में इस भेद-विज्ञान के गीत मुक्त कण्ठ से गाये हैं। आचार्य अमृतचन्द्र तो यहाँ तक लिखते हैं–

"भेदविज्ञानत: सिद्धा:, सिद्धा: ये किल केचन।
अस्यैवाभावतो बद्धा:, बद्धा: ये किल केचन॥"[4]

अर्थ– आजतक जितने भी जीव सिद्ध हुये हैं, वे भेदविज्ञान से ही सिद्ध हुये हैं और जितने भी जीव संसार में बद्ध हैं वे भेदविज्ञान के अभाव से ही बँधे हुये हैं।

इसीप्रकार पंक्ति संख्या 16 में कहा गया है कि मैंने द्वादशांग के सारभूत आत्मा का श्रवण-मनन-अनुभवन किया है। यह आत्मदर्शन या आत्मानुभूति का महत्त्वपूर्ण विषय जैन-अध्यात्मविद्या का सार है। यथा—

"जो पस्सदि अप्पाणं......पस्सदि जिणसासणं सव्वं।"[5]

इस प्रकार हम देखते हैं कि सम्राट् खारवेल के इस शिलालेख में जैनदर्शन की तत्त्वमीमांसा, आचारमीमांसा और अध्यात्मविद्या के मूल सूत्र सन्निहित हैं जिन्हें भलीभाँति समझकर स्व-पर-कल्याण का महान् उपक्रम किया जा सकता है।

सन्दर्भ

1. आचार्य कुन्दकुन्द, प्रवचनसार, गाथा 80 2. आचार्य उमास्वामी, तत्त्वार्थसूत्र, 7/1 3. आचार्य वट्टकेर, मूलाचार, गाथा 888 4. आचार्य अमृतचन्द्र, समयसार कलश, 131 5. आचार्य कुन्दकुन्द, समयसार, गाथा 15

❖❖

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

भक्ति में मुक्ति का अंकुर है

—आचार्य विद्यानन्द मुनिराज

'चक्र' शब्द का अपने आप में बहुत बड़ा महत्त्व है। इसे 'संसार-चक्र' भी कहते हैं, जिसमें पंचपरावर्तन का वर्णन है– द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव और भव। चौरासी लाख योनि में ऐसी कोई योनि नहीं बची है जिसमें इस जीव ने भ्रमण नहीं किया। नाना तरह के द्रव्यों का उसने उपयोग कर लिया। सारे पंच परावर्तन में एक प्रदेश नहीं बचा जहाँ इसने जन्म नहीं लिया। ऐसा कोई काल भी नहीं है, सुखमा, सुखमा-दुखमा, दुखमा आदि सभी कालों में इसने जन्म-मरण प्राप्त किया है और संसार में ऐसे कोई शुभ-अशुभ भाव भी नहीं बचे जिसे इसने भाया नहीं। इस 'पंच परावर्तन' में मिथ्यादृष्टि जीव नाना तरह के सांसारिक बातों को करते आ रहे हैं। इसने पाया नहीं तो केवल एक सिद्ध गति को, जिसको पंचम गति कहते हैं। चौरासी लाख योनि में चतुर्गति में भ्रमण करने को ही 'संसारचक्र' कहते हैं।

इसके बाद कर्मचक्र है– ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय, मोहनीय, वेदनीय, अंतराय, आयु, नाम, गोत्र। सिद्ध भगवान् इन आठों कर्मों से मुक्त हैं। इसी तरह से 'चक्ररत्न' भरत चक्रवर्ती को प्राप्त हुआ। यह चक्ररत्न सारे शत्रु का संहार करने वाला होता है।

'धर्म-चक्र' भी एक चक्र है। 'जैनेन्द्रं धर्मचक्रं प्रभवतु' आप सब शांतिपाठ में पढ़ते ही हैं। जैसे कोई सम्राट चतुरंगी सेना के माध्यम से पृथ्वी को जीतता है वैसे ही अरिहंत, सिद्ध, चत्तारि मंगलं, अरहंता मंगलं, सिद्धा मंगलं, साहू मंगलं, केवली पण्णत्तो धम्मो मंगलं। ये चारों मंगल हैं। इनके माध्यम से आप अपने शत्रु पर विजय प्राप्त कर सकते हैं।

एक 'सुदर्शन चक्र' भी होता है जो भगवान् के आगे-आगे धर्मचक्र की भांति चलते रहता है, जिसे देखते ही मनुष्य श्रद्धा से झुक जाता है। उसके दर्शन करते ही मनुष्य के अंदर आनंद की अनुभूति होती है। इस चक्र से हजारों रश्मियाँ निकलती रहती हैं जिसके दर्शन से अति आनंद की अनुभूति होती है।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

एक बड़ी विचित्र गाथा सिद्ध भगवान् की प्राकृत पूजा में है। इसे सबको मन लगाकर सुनना चाहिए और मनन करना चाहिए। इसका जो सारांश है वह बहुत ही महत्त्वपूर्ण है। इसमें बहुत ही गजब की बात लिखी है उन्होंने। भक्तिभाव को इतना ऊँचा उठाकर कोई आचार्य ही बता सकते हैं– ये तो नेमिचन्द्र आचार्य ही हैं। धर्मानुरागी डॉ. कमलचन्दजी सोगानी ने इसका बहुत ही सुन्दर अनुवाद कर दिया है। कुछ लोग कहते हैं कि ज्ञान से मोक्ष होगा। कोई कहते हैं कि दर्शन से मोक्ष होगा, कोई कहते हैं कि उग्र तप, चारित्र से मोक्ष होगा, कोई कहते हैं कि संयम से मोक्ष होगा। इस तरह से सब अपने-अपने अनुभव से अपनी तरह से दुनिया को बताते हैं। पर इस गाथा में आचार्य कहते हैं–

णयेव णाणेण य दंसणेण तवेण उग्गेण य संयमेण।
सिद्धे तिआले सुविसुद्धबुद्धे समग्घयामो सयले विसुद्धे॥

भक्ति से मोक्ष मिल जायेगा। ये जो अमुक-तमुक से मोक्ष मिलेगी। ऐसी कल्पना करते हैं उसका आचार्य ने खण्डन कर दिया। भक्ति में ही सारे आ जाते हैं– ज्ञान, दर्शन, तप, सारे आ जाते हैं– ज्ञान, दर्शन, तप, संयम। एक सिद्ध भगवान् की भक्ति में, सिद्धचक्र की भक्ति में सब आ जाते हैं।

जितने भी शास्त्रों में अंतरंग तप, बहिरंग तप, प्रतिक्रमण, प्रायश्चित्त बताये गये हैं, इनके बजाय यदि कोई मात्र भक्ति करता है अर्थात् जिसके कंठ में, जिसके हाथ में भक्ति है उसके हाथ में मुक्ति है। मुक्ति का अंकुर है। इतनी महान् शक्ति है भक्ति में। हम रोज ही 'णमो सिद्धाणं' बोलते हैं। बहुतों की कल्पना है कि परमात्मा किसी का भला करता है, किसी का बुरा करता है। नाना तरह के संसार में कर्त्तव्यवान को लेकर बैठे हैं। परन्तु सिद्धों के गुण-भावना को हम भाते हैं, भक्ति करते हैं, उनका नाम लेते ही हमारे सारे कर्म अपने आप पिघल जाते हैं, नष्ट हो जाते हैं। जैसे– मोर पक्षी के बोलते ही सर्प अपने बिल में घुस जाता है, गरुड़ पक्षी को देखकर साँप की जान उड़ जाती है, वैसे ही भगवान् के दर्शन और पूजा-भक्ति से असंख्यात कर्मों की निर्जरा एक-एक क्षण में हो जाती है, ये भी ध्यान है। 'परमात्मप्रकाश' में तथा वसुनंदी आचार्य ने 'वसुनंदी श्रावकाचार' में इसे भी एक प्रकार का ध्यान बताया है। जो मंत्रपूर्वक पूजा करते हैं, भक्ति करते हैं, उसको भी उन्होंने ध्यान कहा है। ध्यान सिर्फ आँख मूँदकर बैठने को नहीं कहते। एकाग्रता से एक क्षण के लिए घर को भूल गये, परिवार को भूल गये, पैसे को, चैक को, टेलीफोन को यानी सारे संसार की बातों को भूल गये– यह ध्यान है, अतः थोड़ी देर के लिए खाना-पीना सब कुछ भूलकर एक लक्ष्य, पवित्र उद्देश्य आपका सिद्ध भगवान् की पूजा के लिए रखो। यह भी एक प्रकार का ध्यान है।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

थोड़ी देर आप शांतचित्त से बैठकर भक्तिभाव से, मन-वचन-काय से पूजा-पाठ, भक्ति करते हैं तो मन प्रसन्न और एकाग्र हो जाता है। 'ध्यानाग्निः सर्व कर्माणि भस्मसात् कुरुते क्षणात्'। कहने का तात्पर्य है कि जो सिद्ध भगवान् आठ कर्मों से मुक्त होते हैं उन भगवान् का ध्यान करना भी किसी तपश्चर्या से कम नहीं है, ज्ञान-दर्शन से कम नहीं है। सम्यग्दर्शन की प्राप्ति जिनेन्द्र बिम्ब के दर्शन से होती है। धवला में यहाँ तक लिखा कि जो कर्म और किसी से नहीं कटते हैं वे एक जिन-बिम्ब के दर्शनमात्र से, भक्ति से कट जाते हैं, ढीले हो जाते हैं। यहाँ तक कह दिया कि निकाचित कर्म भी ढीले हो जाते हैं और क्या बात बतायें? जयधवला के छठे पृष्ठ में वीरसेन आचार्य ने लिखा है कि शुभ और शुद्ध साथ-साथ चलते हैं। शुद्ध भाव है तो शुभ भाव भी उसके पीछे हैं। कैसे? जैसे लकड़ी जलाते हैं तो आग के साथ थोड़ा सा धुआँ भी निकलता है। ऐसे ही शुभ और शुद्ध ये दोनों भाव साथ-साथ चलते हैं और दोनों कर्म-नाश के निमित्त बनते हैं। बीज बो रहे फसल के लिए, उसके साथ घास भी उग जाती है। वे पुण्य प्रकृतियाँ भी अपने आप उसके साथ लगी हुई हैं। इसलिए आपका ध्येय यही हो कि हे सिद्ध भगवान्! हम आपके जैसा ही बनना चाहते हैं, आपके गुणों को ग्रहण करना चाहते हैं।

जब हम साधु लोग आहार के लिए निकलते हैं, तो पहले 'सिद्ध-भक्ति' बोलते हैं– 'हे भगवन्! हम आप जैसा निराहारी बनना चाह रहे हैं, पर मजबूर होकर आहार के लिए जा रहे हैं।' जैन धर्म निवृत्तिप्रधान धर्म है। प्रवृत्ति के लिए इसमें कोई स्थान नहीं है।

आदिनाथ भगवान् द्वारा उनके पिछले जन्म में एक चारणऋद्धिधारी मुनिराज को आहार देते समय वहाँ पर बंदर, नेवला, जंगली सूअर ये जो जंगली प्राणी थे, उन प्राणियों के मन में ये भाव पैदा हुआ कि यदि हम भी मनुष्य होते तो हम भी मुनिराज को आहार देते। इसी भावना को भाते वे मर गये। मात्र इस प्रकार का भाव पैदा होने से वे अगले जन्म में भरत और बाहुबली होकर जन्मे। केवल मन-वचन-काय से अनुमोदना की, करे-धरे कुछ नहीं। सोचो! महापुराण में वर्णन किया है कि चारणऋद्धिधारी मुनि को आहार देते समय जो-जो जीव अनुमोदना करने वाले थे, वे सब उसके अगले भव में मोक्ष गये। उस जन्म में स्वर्ग गये और फिर वहाँ से मनुष्य जन्म लेकर भगवान् आदिनाथ के साथ बारी-बारी से मोक्ष गये, एक मेंढक केवल एक फूल की पंखुड़ी चढ़ाने के लिए ले जा रहा था, रास्ते में मरकर वह स्वर्ग चला गया। आप लोग जिन अष्टद्रव्यों से पूजा करते हैं, वे आठों कर्मों का नाश करने वाले हैं।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

जैन पारिभाषिक शब्द जो होते हैं, वे सब स्वतंत्र होते हैं। जैसे हम 'आदिनाथ' कहते हैं। इसमें 'नाथ' शब्द 'न' और 'अथ' शब्दों से बना है। जिसका आदि और अंत नहीं है, उसका मध्य भी नहीं है, यानी अनादि है। जैन धर्म के अन्दर छह द्रव्य माने गये हैं– जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश और काल। आदिनाथ भगवान् का जब जन्म हुआ तो देवों ने 'जय जीवेत्' शब्दघोष किया। यानी 'जीवमात्र की विजय हो..., जीवमात्र की विजय हो।' वो इसलिए कहा कि इस युग के वे प्रथम तीर्थंकर थे और उन्होंने ही इहलोक और परलोक की बातें बताई।

हमारे आठ कर्म हैं। उनके 148 भेद हैं, तथा इनके भी अनेक भेद हैं। इन सारे भेद-प्रभेदों का, आत्मा का विविध रूप से सिद्धचक्र के पाठ में वर्णन है। जैसे चेतन शब्द है। चेतन एक संवेदनशीलता है। चेतन किसे कहें? जैसे आपके शरीर के किसी हिस्से पर किसी ने स्पर्श किया तो आपका हाथ झट से उस जगह पर चला जाता है कि किसने स्पर्श किया। अथवा शरीर भर में कहीं भी खाज-खुजली हो रही हो तो भी हाथ तुरन्त अंधेरे में भी उस जगह पर चला जाता है। तो हम लोग हर आत्मा को स्वतंत्र मानते हैं और मुक्त होने के बाद भी उनकी स्वतंत्र सत्ता नष्ट नहीं होती। जैसे एक कमरे में अनेक दीपक जला दिये। यदि उनमें से एक दीपक को हटा दिया तो बाकी के दीपकों की रोशनी नष्ट नहीं होती। और असंख्य दीपक जला दिये गये हों तो भी उन दीपकों की रोशनी एक-दूसरे का विरोध नहीं करती। उनका एक दूसरे के प्रति कोई बुरा असर नहीं पड़ता, क्योंकि वे एक जाति के हैं, एक क्षेत्रावगाही हैं, तथापि उनकी स्वतंत्र सत्ता कभी खत्म नहीं होती। ऐसे ही सिद्ध भगवान् अनादि काल से मोक्ष जा रहे हैं। वे सब एक ही क्षेत्रावगाही होते हुए भी उनके ज्ञानादि गुण, चैतन्य गुण एक सत्तात्मक होते हुए भी वे अपनी सत्ता से कभी अलग नहीं होने देते।

जीव और पुद्गल द्रव्य– जैसे छह द्रव्य हैं। ये छहों द्रव्य अपने स्वभाव को कभी नहीं छोड़ते। जीव में चैतन्य गुण है। 'चेतनालक्षणो जीवः।' पुद्गल– रूप, रस, गंध, वर्ण युक्त है। ये मिट्टी आदि पुद्गल हैं। ये रूप, रस, गंध वर्ण युक्त होते हुए भी ये न तो कभी आत्मा का रूप बनते हैं या आत्मा के गुण इनमें आते हैं और न ही आत्मा अपना चैतन्य गुण इनमें आने देती है। इसीलिए तत्त्वार्थसूत्र में एक सूत्र आया– 'द्रव्याश्रया निर्गुणा गुणाः' जो द्रव्य के आश्रितभूत गुण हैं वही गुण हैं, वही गुण शाश्वत हैं। यदि गुण के अंदर गुण आ जाये तो अनवस्था दोष आ जाएगा। अनवस्था दोष किसे कहते हैं? जैसे किसी ने दीपक जलाकर लाया। तो पूछते हैं कि दीपक कहाँ से जलाकर लाये? तो बोलते हैं कि हमने पड़ोसी के दिये से इस दिये को जलाकर लाया। और जब पड़ोसी से पूछें कि

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

तुमने कहाँ से जलाये? तो वह बोलता है कि हमने भी अपने दूसरे पड़ोस वाले घर के दिये से जलाया है। इस तरह से उसका कोई अंत ही नहीं मिलेगा। इसलिये यहाँ पर कहते हैं कि जीव और पुद्गल अपने-अपने स्वभाव को कभी छोड़ते नहीं हैं।

धर्म और अधर्म द्रव्य– इस आकाश में धर्म-द्रव्य ठसाठस भरा हुआ है। जो हम धर्म-ध्यान करते हैं, ये धर्म नहीं है, ये एक वस्तु है। ये अन्य किसी शास्त्रों में नहीं लिखा गया है, सिर्फ जैन शास्त्रों में लिखा गया है और इसके लिए साइंस वालों ने किसी वैज्ञानिक शब्द का प्रयोग किया है। जैसे पानी में मछली इधर-उधर तैरती रहती है और जहाँ पानी नहीं है वहाँ मछली नहीं जा सकती। पानी मछली को इधर-उधर घूमने का कारण है। हाथ-पैर हिलाना, डुलाना, जाना-आना एक धर्म द्रव्य इस पृथ्वी मण्डल पर है। वो हमारे सारे द्रव्यों को पुद्गल, जीव को सहजता से गमनागमन के लिए सहकार्यकारिणी है। इससे आज हमारे साइंस वालों ने इसका संशोधन कर दिया कि आज वायरलेस (मोबाइल) से, यानी बिना तार के आप कहीं से कभी भी किसी से भी बात कर रहे हैं। कोई भी पेपर फैक्स के द्वारा एक मिनट के अंदर देश-विदेश के किसी भी कोने में भेज दिया जाता है। हू-ब-हू वही पेपर वहाँ के फैक्स मशीन में प्रिन्ट हो जाता है। किसी छोटी सी जगह में दो छोटे कमरे आमने-सामने हों और एक का दरवाजा खोलें तो भी खुल जाता है और एक को बंद करें तो दूसरा भी बंद हो जाता है। तो एक ऐसा अमूर्तिक द्रव्य है जो सारे पृथ्वी मंडल के जीव और पुद्गल पदार्थों को गमानगमन के लिए सहायता करता है। कोई भी चीज स्थिर है, इसका मूल कारण क्या है? यह अधर्म नाम का एक द्रव्य है। जैसे पेड़ के नीचे छाया है तो कोई भी मुसाफिर आकर बैठ जाता है। पेड़ ने उसे अपने नीचे आने के लिए पकड़कर खींचा नहीं। एकदेश दृष्टान्त है।

काल द्रव्य– इसी प्रकार से काल-द्रव्य है। आप सब तो व्यावहारिक काल द्रव्य को जानते हैं– घड़ी, घंटा, दिन, महीना, वर्ष आदि ये व्यावहारिक काल है। निश्चय काल-अत्यन्त सूक्ष्म है। एक परमाणु जिसका और भी टुकड़ा नहीं किया जा सकता है उतनी जगह में लुढ़कने को एक समय कहते हैं। इतने एक समय में 'उत्पादव्ययध्रौव्ययुक्तं सत्।' तीन समय नहीं लगते 'उत्पादव्ययध्रौव्ययुक्तं सत्' होने के लिए। तो काल द्रव्य पुराने से नया और नये से पुराना होने के लिए मदद करता है। उदासीनता से, जबरदस्ती से नहीं। जैसे आपने दूध पी लिया तो उसे खून बनने में काल द्रव्य मदद करता है। ऐसे हर पदार्थ को बनने में काल द्रव्य मदद करता है। हर परमाणु स्वतंत्र है। जैसे– आम का फल पेड़ में लगा है। उसमें से कोई हरा है, कोई पीला है, किसी में काला दाग लग गया है और

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri
कोई सड़ रहा है। तो काल-द्रव्य एक रत्नराशि जैसा एक-एक प्रदेशों में ठसाठस भरा हुआ है। जहाँ जिस पदार्थ का परिणमन हो रहा है उसको उसी रूप में परिणमन कराने में ये काल द्रव्य सहयोगी होते हैं। इन सारी बातों का अपने जैन शास्त्रों में सूक्ष्म वर्णन है और कहीं नहीं है।

आकाश द्रव्य– भले ही आकाश सबको जगह देता है, अन्य पाँचों द्रव्य भी आकाश को सहयोग देते हैं। पंचास्तिकाय में लिखा है कि जैसे दूध में पानी मिलाकर एकरूप हो जाता है, ऐसे ही सारे द्रव्य एक-दूसरे में मिले हुए हैं। फिर भी जैसे पानी का स्वभाव पानी है, और दूध का स्वभाव दूध है, ऐसे ही सारे छहों द्रव्य अपने स्वभाव को कभी नहीं छोड़ते हैं। उपादान उनकी जो सत्ता है वह स्वतंत्र है। सिद्ध भगवान् की पूजा में एक-एक चीजों के अर्थ इतने गूढ़, गंभीर हैं। नाना तरह से इसमें लिखे गये हैं। इसमें लिखा है कि 'अनंत व्याप्य-व्यापक भाव'। जब तक इन शब्दों को दसों साल तक पढ़ेंगे नहीं तो ये शब्द समझ में नहीं आयेंगे। सिर्फ चावल चढ़ा दिया, पूजा किया, मंत्र बोल दिया, गाजा बाजा कर दिया, इतना करने से ही नहीं चलेगा। हर पदार्थ अपने में व्याप्य-व्यापक है। आपके शरीर में आपकी आत्मा अपने आप में व्याप्य-व्यापक है और इसी तरह से शरीर अपने आपमें व्याप्य-व्यापक है।

जैसे पानी अपने में व्याप्य-व्यापक है और दूध अपने में व्याप्य-व्यापक है और यदि उसमें केसर डाल देते हैं तो उसका रंग पीला हो जाता है तो वह केसर अपने में व्याप्य-व्यापक भाव है। इस संसार में एक द्रव्य दूसरे द्रव्य रूप कभी बनते नहीं हैं। ये क्यों कहा?

जैसे कुम्हार घड़ा बनाता है तो व्यवहार से भले ही कहें कि कुम्हार ने घड़ा बनाया, मगर वास्तव में उस मिट्टी में घड़ा बनने की उपादेय शक्ति पहले से ही मौजूद थी। कुम्हार तो निमित्तमात्र बना। कुम्हार ने मिट्टी थोड़ी ही बनाई। वह तो उस मिट्टी में पानी आदि डालकर उसे सिर्फ गूंथने और आकार देने के लिए निमित्त बना। व्यवहार से कुम्हार ने घड़ा बनाया, पर निश्चय से कुम्हार ने मिट्टी नहीं बनाई। इसलिए उसे सर्वथा उस घड़े का कर्ता नहीं कह सकते। यदि वह उसका कर्ता होता तो पानी भरते समय भी उसकी जरूरत पड़ती कि भाई उस कुम्हार को बुलाओ, बिना उसके पानी नहीं भर सकते। मगर आप जानते हैं कि ऐसा नहीं होता है। इसलिए ये जो कहा जाता है कि किसी ने इस सृष्टि को बनाया है, वही इस सृष्टि को चलाता है, उसके बिना एक पत्ता नहीं हिल सकता है। ये सिद्धान्त इस कथन को बेबुनियाद कर देते हैं। फिर इस संसार में एक जीव सुखी है और दूसरा दुःखी क्यों हैं? उसने एक को सुखी और दूसरे को

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri
दुःखी क्यों बनाया? एक को काला और दूसरे को गोरा क्यों बना दिया? एक को रोगी और दूसरे को नीरोगी क्यों बनाया? इस तरह से 'इन सबको ईश्वर ने बनाया है' ये जो कल्पना है, गलत है।

हमारे यहाँ प्रत्येक की स्वतंत्र सत्ता है। ये जो छह द्रव्य हैं, ये किसी के आधार पर नहीं हैं। अपने आधार पर ये छहों द्रव्य हैं। व्यवहार से कहते हैं कि ये एक-दूसरे के आधार पर हैं। पर निश्चय से ये अपने आधार पर हैं। जैसे आपको भूख लगती है तो आपको ही भोजन करना होगा तभी आपकी भूख मिट सकती है। ये नहीं कि भूख आपको लगी है और भोजन कोई दूसरा कर ले तो आपका पेट भर जायेगा। इसी प्रकार से इस पृथ्वी मण्डल के छहों द्रव्य अपने आधाराधार है। आकाश अपने में आधाराधार है, जीव अपने में आधाराधार है। स्वतंत्र सत्ता त्रिकाल हमारे जीव के अंदर है– ये मानना पड़ेगा। जब तक ये नहीं मानेंगे तब तक अध्यात्म में प्रवेश नहीं होता।

वेद्य-वेदक भाव– आत्मा अपने सुख-दुःख का कर्ता-धर्ता, अनुभवकर्ता है। पर ये याद रखना कि वह अपने शुद्ध भाव का ही कर्ता-धर्ता है– ये व्यवहार से कहते हैं। आपसे कोई पूछता है कि क्या आप दुःखी हैं? तो आप कहते हैं कि नहीं, मैं दुःखी नहीं हूँ। व्यवहार से आप दुःखी हो भी सकते हैं, परन्तु निश्चय से आप कभी दुःखी हो ही नहीं सकते। क्योंकि आत्मा का स्वभाव ही है कि वह कभी दुःखी हो ही नहीं सकता। पानी अग्नि के सम्पर्क में आने से गर्म हो जाता है और जब अग्नि के सम्पर्क से बाहर आ जाता है तो फिर से अपने मूल स्वभाव में आ जाता है। यानी शीतल हो जाता है। आप किसी बात को लेकर अचानक क्रोधित हो जाते हैं, मगर थोड़ी देर के बाद फिर अपने शांत स्वभाव में आ जाते हैं। तो आत्मा अपने स्वभाव को कभी नहीं छोड़ता है। अनंतानंत पर्याय को यह आत्मा पी चुका है, भोग चुका है, अब कोई पर्याय बाकी नहीं है। सिर्फ एक सिद्ध पर्याय भोगना बाकी है बस !

महानुभावों! सिद्धों के आत्मा में सारे अनंत पदार्थ, सारे द्रव्य, गुण, पर्याय से झलकते हैं। आप सब बड़े भाग्यशाली हैं, एक आदमी कुंआ खुदवाता है तो हजारों आदमी पानी पीते हैं। एक आदमी अस्पताल बनाता है तो हजारों लोगों का उपचार होता है, हजारों लोग स्वास्थ्य लाभ लेते हैं। एक आदमी मंदिर बनवाता है तो हजारों लोग दर्शन करते हैं।

सिद्ध भगवान् की जो प्राकृत पूजा है उसे जब आप प्रतिनित्य सुनोगे तो गद्गदित हो जाओगे और आपके कर्मों का क्षय तथा दुःख का क्षय होगा। इसी मंगल भावना के साथ आप सबको आशीर्वाद और धन्यवाद देता हूँ। ❖❖

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

जैन योग में श्रमण मुनि

—आचार्य श्रुतसागर मुनिराज

जो जैन योग साधक हठयोगी योगविद्या में विशारद होते हैं ऐसे दिगम्बर जैन मुनियों को 'श्रमण' कहते हैं। अत्यन्त प्राचीन वैदिक ग्रन्थों में श्रमण मुनियों का विशेष रूप से भगवान ऋषभदेव का वर्णन किया गया है। सर्वप्रथम ऋग्वेद में श्रमण शब्द का उल्लेख आया है (ऋग्वेद 10/94/11) वाल्मीकि रामायण में विशेष रूप से 'श्रमणी' अर्थात् जैन योगिनी का वर्णन आता है। भगवान् श्री रामचन्द्रजी ने जिस शबरी का आतिथ्य स्वीकार किया था वह जैन साध्वी श्रमणी थी। वह इस प्रकार है— **श्रमणी शबरी नाम श्रमणा श्रमणोत्तमा।**

—(वाल्मीकि रामायण, वनकांड, 6/57/4)

अर्थ— श्रमणी शबरी नाम से प्रसिद्ध श्रमणा एवं श्रमणोत्तमा थी। उन्होंने झूठे बेर भगवान रामचन्द्रजी को खिलाया ऐसा उल्लेख आता है।

वास्तव में जैन साधु श्रमण होते हैं, साध्वी श्रमणी कहलाती हैं। प्राचीन जैन ग्रन्थों में श्रमण अथवा श्रमणी के आहार के पश्चात् शेष अन्न को प्रसाद के रूप में ग्रहण करने की परम्परा रही है। इसी बात को आचार्य कुन्दकुन्द स्वामी 'रयणसार' ग्रन्थ में उल्लेख करते हैं—

जो मुणि भुत्तवसेसं भुंजइ से भुंजदे जिणुद्दिट्ठं।
संसार सारसोक्खं कमसो णिव्वाणवर सोक्खं ॥ 22 ॥

—(रयणसार, मूल गाथा 22)

अर्थ— अर्थात् जो मुनिराज या श्रमण योगी के आहार या भोजन के उपरांत शेष अन्न को प्रसाद के रूप में ग्रहण करता है वह श्रावक संसार के सार सुख को प्राप्त करता है अर्थात् संसार के सौधर्म इन्द्र, चक्रवर्ती, सम्राट् आदि स्वरूप में श्रेष्ठ सुख को प्राप्त करता है एवं क्रम से निर्वाण सुख को प्राप्त करता है।

श्रमण योगी मुनिराज के पर्यायवाची नाम बतलाते हुए मूल आराधना में कहते हैं—

समणोत्ति संजदोत्ति य रिसि मुणि साधुत्ति वीदरागो त्ति।
णामाणि सुविहिदाणं अणगार भदंत दंतोत्ति य ॥ 886 ॥

—(मूल आराधना, 886)

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

अर्थ– श्रमण, संयत, ऋषि, मुनि, साधु, वीतरागी, अनगार, भदंत, दंत व यति –ये उत्तम चारित्र वाले श्रमण मुनिराज के पर्यायवाची नाम हैं।

श्रमण योगी मुनिराजों के लिए जैन योग में 'यम' अर्थात् महाव्रतों का निर्देश करते हुए जिनेन्द्र भगवान की वाणी को आचार्य प्रमुख गौतम गणधर स्वामी व्रत-प्रतिक्रमण में बतलाते हैं।

वद समिदिंदियरोधो लोचोआवासयमचेलमण्हाणं।
खिदिसयणमदंतदवणं ठिदिभोयणमेयभत्तं च॥1॥
एदे खलु मूलगुणा समणाणं जिणवरेहिं पण्णत्ता।....

–(आचार्य गौतम गणधर स्वामी, व्रत प्रतिक्रमण, 1/2)

अर्थ– पाँच महाव्रत, पाँच समिति, पाँच इन्द्रिय-संयम, षट् आवश्यक, सात विशेष गुण-केशलोंच-अचेलक (नग्न दिगम्बर यथाजातरूप) अस्नान, भूमिशयन, अदंतधावन स्थितिभोजन (खड़े होकर भोजन करना), एयभत्तं (दिन में एक बार भोजन करना) –ये अट्ठाईस मूलगुण श्रमण श्रेष्ठ जिनेन्द्र भगवान् ने महाव्रती योगी श्रमण मुनिराजों के लिए बतलाए हैं।

श्रमण शब्द की परिभाषा करते हुए आचार्य कुन्दकुन्ददेव इसप्रकार कहते हैं–

समसत्तु बंधु वग्गे समसुह दुक्खो पसंसणिंदसमो।
समलोट्ठु कंचणो पुण जीविद मरणे समो समणो॥ 241॥

–(प्रवचनसार, मूल 241)

अर्थ– जिसे शत्रु एवं मित्र तथा बन्धुवर्ग समान है, सुख-दुःख समान है प्रशंसा और निन्दा के प्रति जिसको समता भाव है, जिसे लोष्ट (मिट्टी का ढेला) और सोना (सुवर्ण) समान है तथा जीवन-मरण के प्रति जिसकी समता भाव है, वही श्रेष्ठ श्रमण मुनिराज है, वही योगीराज है।

मूलाराधना ग्रन्थ में आचार्य श्रमण मुनिराज के बारे में कुछ इस प्रकार कहते हैं–

णिस्संगो णिरारंभो भिक्खा चरियाए सुद्ध भावो।
एगागी जाण रदो सव्व गुणो हवे समणो॥

–(मूल आराधना 1000)

अर्थ– जो निष्परिग्रही है एवं निरारम्भ है चक्की, चूला, झाड़ू, रसोई, खेती-बाड़ी आदि कार्य आरम्भ कहलाते हैं। जो इन कार्यों का त्याग करता है, वह निरारंभ है। जो भिक्षा चर्या से भोजन करके मन, वचन एवं शरीर को शुद्ध रखता है, अर्थात् स्वस्थ रखता है भावों को शुद्ध रखता है अर्थात् अंतरात्मा को शुद्ध रखता है। एकाकी अर्थात् अकेला ध्यान में लीन होता है और सब गुणों से परिपूर्ण

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri
रहता है, वह योगी मुनिराज श्रमण कहलाते हैं।

नयचक्र में श्रमण शब्द का सुन्दर विवेचन किया है, वह इसप्रकार है–

सुह दुक्खादि समाणो झाणे लीणो हवे समणो। –(नयचक्र, 330/331)

अर्थ– जो सुख-दुःख में समता भाव रखते हैं और अपने आत्मध्यान में लीन रहते हैं, वे मुनिराज श्रमण होते हैं।

भावपाहुड में भावश्रमण का वर्णन करते हुए आचार्य कहते हैं–

पावंति भाव समणा कल्लाण परंपराइं सोक्खाइं।

–(भावपाहुड, मूल. 100)

अर्थ– भावश्रमण तो कल्याण परंपरा स्वरूप मोक्षसुख को प्राप्त करते हैं।

विरक्त प्रवृत्ति के समता भाव या समान भाव ही श्रमणत्व है, इस बात को बताते हुए आचार्य कहते हैं–

विरति प्रवृत्ति समानात्मरूपश्रामण्यत्वात् श्रमणं।

–(प्रवचनसार/टीका/त.प्र./203)

विरक्त प्रवृत्ति के एवं समता स्वरूप आत्म प्रवृत्ति के योगी के श्रामण्यपने के कारण श्रमण कहलाते हैं। वास्तव में **'सममणोत्ति समजोगी समणो'** इस निरुक्ति के अनुसार तन, मन, चेतन में समता भाव सम्पन्न योगी श्रमण है। जैन योग में शुभ उपयोग एवं शुद्ध उपयोग का बहुत महत्त्व है– इस बात को प्रवचनसार में आचार्य कुन्दकुन्ददेव कहते हैं–

समणा सुद्धुवजुत्ता, सुहोवजुत्ता य होंति समयम्हि।
तेसु विसुद्धुव जुत्ता, अणासवा सासवा सेसा॥ 245॥

–(प्रवचनसार/मू./245)

अर्थ– शास्त्रों में ऐसा कहा है कि श्रमण योगी-मुनिराज शुद्धोपयोगी भी होते हैं एवं शुभोपयोगी भी होते हैं। उनमें शुद्धोपयोगी वीतरागी श्रमण मुनिराज निरास्रव होते हैं अर्थात् वे आस्रव रहित होते हैं। शुभोपयोगी के आस्रव होते हैं अर्थात् आस्रव सहित होते हैं।

वाल्मीकि रामायण में श्रमणों का वर्णन इस प्रकार किया है–

तापसा भुंजते चापि श्रमणाश्चैव भुंजते। –(वाल्मिकी रामायण, 4/4/9)

अर्थात् राजा जनक के राजमहल में जिस प्रकार तापस अर्थात् तपस्वियों को भोजन कराते थे, उसी प्रकार श्रमण दिगम्बर मुनिराजों को भी भोजन कराते थे। श्रीमद्भागवत में श्रमण मुनिराज का विशेष रूप से विवेचन करते हुए कहते हैं–

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

श्रमणा वातरसना आत्मविद्याविशारदाः। –(श्रीमद् भागवत, 11/2)

अर्थ– जो समता भाव से सम्पन्न थे, ऐसे श्रमण योगी आत्मविद्या अर्थात् अध्यात्मविद्या में विशारद थे, आत्मविद्या के उत्कृष्ट विद्वान् एवं आत्म-अनुभवी थे।

भागवतकार श्रमण महायोगियों की प्रशंसा की है, जो उच्च आचार-विचार का द्योतक है।

कृते प्रवृत्तते धर्मश्चतुष्पात्तजनैधृतिः।
सत्यं दया तपोदानमितिपा विभोनृपः॥
संतुष्टा करुणा मैत्राः शांता दांतास्तितिक्षवः।
आत्मारामाः समदृशः प्रायशः श्रमणाजनाः॥

–(श्रीमद्भागवत्, स्कन्ध 12, अध्याय 3/18-19)

अर्थ– हे राजन्! कृत युग अर्थात् सतयुग में धर्म के चार चरण होते हैं– (1) सत्य, (2) दया, (3) तप, (4) दान। इस धर्म को उस समय लोग निष्ठापूर्वक धारण करते हैं। सतयुग में प्रायः श्रमण संतुष्ट, करुणाशील, मैत्री-परायण, शांत, इन्द्रिय-विजयी, सहनशील, आत्मा में रमण करनेवाले और समदृष्टि वाले योगी मुनिराज होते हैं। वासुदेवशरण अग्रवाल के अनुसार श्रमण दिगम्बर निर्ग्रन्थ मुनिराज प्राचीन काल से ही विचरण करते रहे हैं। वे आगे कहते हैं– श्रमण परंपरा के कारण ब्रह्म धर्म में वानप्रस्थ और संन्यास को प्रश्रय मिला। ब्राह्मण एवं श्रमण परंपरा सनातन एवं अत्यंत प्राचीन है– ऐसा प्राचीन ग्रन्थों में उल्लेख मिलता है। दिगम्बर श्रमण मुनिराज को वातरसना अर्थात् मासोपवास, पक्षोपवास करनेवाले श्रमण जो महीनों तक या पन्द्रह दिनों तक निर्जल रहते थे, वे मात्र वात अर्थात् वायु मात्र को भोजन की तरह ग्रहण करते थे। दिग्वासा या दिगंबरा अर्थात् दशों दिशा ही जिनके अम्बर अर्थात् वस्त्र है, उन्हें दिग्वासा या दिगंबरा के रूप में वर्णन किया गया है। श्रमण मुनिराजों को आत्मविशुद्धि के लिए ध्यान करने का उल्लेख प्राचीन ग्रन्थों में यत्र-तत्र-सर्वत्र उपलब्ध है। श्रमण मुनिराज अपनी योग विद्या से स्वयं के कल्याण के साथ सम्पूर्ण जीव मात्र के कल्याण की मंगल कामना करते हैं। श्रमण जागे धर्म जागे, श्रमण जागे देश आगे, श्रमण जागे विश्व आगे। श्रमण योगी के अर्थात् भगवान तीर्थंकर ऋषभदेव महाश्रमण योगी को वेद, उपनिषद, भागवत जैसे अत्यंत प्राचीन ग्रन्थों में 'ऋषभो हरिः', 'ऋषभो सनातनः', 'ऋषभो हि देवः' आदि उपलक्षणों से अत्यन्त आदरपूर्वक स्मरण किया है– इसप्रकार जैनयोग के श्रमण मुनिराज का अत्यन्त अग्रणी स्थान है, जैन योग का वैदिक ग्रन्थों में विशद वर्णन प्राप्त होता है।

❖❖

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

अनेकान्त की व्यापकता

—प्रो. दयानन्द भार्गव

(दिनांक 22/10/2024 को वेदविद्या, जैनविद्या एवं संस्कृत के महामनीषी महामहोपाध्याय प्रो. दयानंद भार्गव का देहावसान हो गया। जैन विद्या के क्षेत्र में उनके अभूतपूर्व योगदान को याद करते हुए, उन्हें हार्दिक श्रद्धांजलि स्वरूप हम उनके द्वारा लिखित यह महत्त्वपूर्ण आलेख प्रकाशित कर रहे हैं। —सम्पादक)

1. अनेकान्त और अनेकान्तवाद-

सर्वप्रथम मैं अनेकान्त और अनेकान्तवाद में अन्तर करना चाहता हूँ। मेरा ऐसा करने का आधार श्रीमद्भगवद्गीता है जिसमें वेद तथा वेदवाद शब्दों का प्रयोग दो भिन्न अर्थो में किया गया है। श्रीकृष्ण कहते हैं—

यामिमां पुष्पितां वाचं प्रवदन्त्यविपश्चित:
वेदवादरता: पार्थ! नान्यदस्तीति वादिन:॥
कामात्मन: जन्मकर्मफलप्रदाम्,
क्रियाविशेषबहुलां भोगैश्वर्यगतिं प्रति॥
भोगैश्वर्यप्रसक्तानां तयापहृतचेतसाम्।
व्यवसायात्मिका बुद्धि: समाधौ न विधीयते॥

स्पष्ट है कि यहाँ 'वेदवाद' 'रत' लोगों की यह कहकर निन्दा की गयी है कि वे यह कहा करते हैं कि 'नान्यदस्ति'। 'इसके अतिरिक्त और कुछ भी नहीं है।' इसके अतिरिक्त और कुछ भी नहीं है— यह जैन परम्परा के 'एव' की ही व्याख्या है। जैनविद्या के अध्येताओं के बीच कहने की आवश्यकता नहीं है कि 'एव' एकान्त का सूचक है। जब कोई वैदिक धर्मावलम्बी यह कहता है कि वेद ही सब कुछ है, वेद के अतिरिक्त और कुछ भी नहीं है, तो वह समाधि को प्राप्त नहीं कर सकता। यह वेद के प्रति एकान्त दृष्टि रखने का परिणाम है। अभिप्राय यह है कि वेद अपराविद्या है। वह स्वर्ग की प्राप्ति का साधन तो है किन्तु यह कहना ठीक नहीं कि 'वेद के अतिरिक्त और कुछ नहीं है; क्योंकि यदि वेद अपराविद्या है तो उसके अतिरिक्त एक पराविद्या भी है जिसके द्वारा अक्षर तत्त्व का अधिगम होता है—

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

अथ परा यया तदक्षरमधिगम्यते।

अर्थात् वेद एक अपेक्षा से सार्थक है किन्तु दूसरी एक ऐसी अपेक्षा भी है जहाँ वेद की गति नहीं है। वह क्षेत्र पराविद्या का है। इसी बात को गीता में **'त्रैगुण्यविषया वेदा: नैस्त्रैगुण्यो भवार्जुन'** (2.45) कहकर प्रकट किया गया है। यह तो एक अपेक्षा से वेद की सीमा हुई, दूसरी अपेक्षा से वेद के प्रशंसापरक वाक्य भी गीता में ही उपलब्ध हो जायेंगे– **'प्रणव: वेद्य:'** (15.15) इत्यादि। निष्कर्ष यह हुआ कि जहाँ वेद की सीमा बतायी गयी है वहाँ 'वेदवाद' शब्द का प्रयोग है किन्तु जहाँ वेद की प्रंशसा की गयी है वहाँ 'वेदवाद' के स्थान पर केवल 'वेद' शब्द का प्रयोग है। इस आधार मैं कहना चाहता हूँ कि जहाँ तक अनेकान्तवाद का प्रश्न है, वह एक वाद है, एक दर्शन है, एक दृष्टि है। उस दर्शन को हम आज जैनदर्शन के नाम से जानते हैं। स्वाभाविक है कि यदि जैनदर्शन एक दर्शन है तो वेदान्त, बौद्ध आदि अन्य दर्शन भी हैं जिनका जैनदर्शन से मतभेद है। अत: वे दर्शन अनेकान्तवाद को स्वीकार नहीं करेंगे। यदि वे भी अनेकान्तवाद को स्वीकार कर लें तो उनका अस्तित्व ही समाप्त हो जायेगा, वे तो जैनदर्शन में ही विलीन हो जायेंगे। अत: अनेकान्तवाद की स्वीकार्यता सीमित ही है। वह अधिक से अधिक वस्तुवादी दर्शनों (Realist Systems) को स्वीकार हो सकता है, जैसा कि पूर्व मीमांसा को स्वीकार है भी किन्तु प्रत्ययवादी (Idealist Systems) दर्शन उसे स्वीकार नहीं कर सकते जैसा कि वेदान्त और बौद्ध उसे स्वीकार नहीं करते हैं। यही अनेकान्तवाद की सीमा है; वह वस्तुवादियों को स्वीकार्य है, प्रत्ययवादियों को स्वीकार्य नहीं है। किन्तु यदि अनेकान्त को एक वाद बना कर उसे विवाद का विषय न बनायें, (तुलनीय गीता (10.32) वादो विवदतामहम्) तो अनेकान्त की स्वीकार्यता सर्वव्यापक हो सकती है। अत: हम 'अनेकान्तवाद' पर विचार न करके प्रस्तुत पत्र में यह विचार करेंगे कि 'अनेकान्त' की सर्वव्यापकता तथा सर्वदर्शन स्वीकार्यता कैसे बनती है। वाद के रूप में तो किसी भी सिद्धान्त की स्वीकार्यता सीमित हो सकती है। वाद का स्वरूप ही ऐसा है कि वह एकपक्षीय ही होता है।

2. वेदान्त और अनेकान्त-

'नैकस्मिन्नसम्भवात्' (ब्रह्मसूत्र) की व्याख्या करते समय आचार्य शंकर ने अनेकान्तवाद का खण्डन किया है। उनका कहना है कि एक में परस्पर विरोधी दो धर्म नहीं रह सकते। अत: अनेकान्तवाद समीचीन नहीं है। इस पर अनेक जैन तथा जैनेतर विद्वानों का कहना है कि आचार्य शंकर अनेकान्तवाद को ठीक से समझे

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

नहीं। मेरा मानना है कि आचार्य शंकर ने अनेकान्तवाद को ठीक से समझकर ही उसका खण्डन किया है। वे अद्वैतवादी हैं। उनके अद्वैतवाद का आधार निरपेक्षता है जबकि अनेकान्तवाद का आधार सापेक्षता है। सापेक्षता सदा अनेकों में हो सकती है, एक में तो निरपेक्षता ही होती है। जब श्रुति का घोष है कि 'नेह नानास्ति किंचन' तो इस श्रुति का अनेकान्तवाद से कैसे मेल हो सकता है ? अतः अद्वैतवादी शंकराचार्य ने अनेकान्तवाद को समझकर ही उसका खण्डन किया है। यह कहना ठीक नहीं है कि आचार्य शंकर अनेकान्तवाद को समझे नहीं थे। आगम-प्रमाण को मानने वाले किसी भी ऐसे तर्क को स्वीकार नहीं कर सकते थे जो तर्क आगम के विरुद्ध जाये। शंकराचार्य की यही स्थिति है। वे श्रुति को अद्वैतवादी मानते थे और अनेकान्तवाद से द्वैतवाद सिद्ध हो जाता है। फिर शंकराचार्य अनेकान्तवाद को कैसे स्वीकार करते? इस पर यह आरोप आ सकता है कि श्रुति तर्कविरुद्ध है। उत्तर यह है कि तर्क दोनों प्रकार का सम्भव है– श्रुतिविरुद्ध तर्क भी है तथा श्रुतिसम्मत तर्क भी है। हमें श्रुतिसम्मत तर्क की खोज करनी चाहिये– **श्रुतिमतस्तर्कोऽनुसन्धीयताम्।**

3. दो प्रकार के तर्क-

डाक्टर सतकड़ि मुखर्जी ने दो प्रकार के तर्कों का उल्लेख किया है। एक शुद्ध तर्क है जो अनुभवनिरपेक्ष है, दूसरा अनुभवसापेक्ष तर्क है। उदाहरणार्थ हम दो वाक्य लें–

1. गुलाबी रंग लाल रंग से हल्का होता है।
2. यज्ञदत्त देवदत्त से कद में छोटा है।

इसमें पहला वाक्य अनुभवनिरपेक्ष है। गुलाबी रंग का लक्षण ही है कि वह लाल रंग से हल्का होता है। अतः गुलाबी रंग लाल से हल्का होता है– यह सिद्ध करने के लिए लाल रंग और गुलाबी रंग का अनुभव करने की आवश्यकता नहीं है। यदि कोई यह कहे कि गुलाबी रंग लाल रंग से गहरा होता है तो उसका यह कथन अनुभव किये बिना ही अप्रमाणिक माना जा सकता है। उसे यह कहने की आवश्यकता नहीं है कि पहले हम गुलाबी रंग और लाल रंग को देखेंगे फिर बतायेंगे कि तुम्हारा कथन सत्य है या नहीं। यह अनुभवनिरपेक्ष तर्क की स्थिति है। इसे a prori Logic कहते हैं। किन्तु उपरिलिखित दूसरे वाक्य की प्रामाणिकता को जानने के लिए यज्ञदत्त और देवदत्त को देखना आवश्यक है। यज्ञदत्त और देवदत्त शब्दों में स्वयं में कोई ऐसा चिह्न नहीं है कि बिना यज्ञदत्त और देवदत्त को देखे यह बताया जा सके कि उनमें कौन कद में छोटा है और कौन कद में बड़ा है। अतः इस वाक्य की सत्यता अनुभवसापेक्ष तर्क से सिद्ध होगी। शंकराचार्य

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

का यह कहना है कि 'कोई पदार्थ है भी और नहीं भी' इसकी सत्यता को जानने के लिए अनुभव की आवश्यकता नहीं है। अस्ति नास्ति का व्यावर्तक है और नास्ति अस्ति का व्यावर्तक है। अतः जैन जिस अनुभव के आधार पर अस्ति और नास्ति का एक ही पदार्थ में युगपद् होना मान रहा है उस अनुभव की अपेक्षा किये बिना ही हम यह कह सकते हैं कि अस्ति और नास्ति परस्पर विरुद्ध धर्म हैं और वे एक में युगपद् नहीं रह सकते। अतः अनेकान्तवाद समीचीन नहीं है। इसके विरुद्ध जैनों का कहना है कि सभी तर्क अनुभव से सिद्ध होते हैं। हम अनुभव से ही तो यह जानते हैं कि कोई पदार्थ या तो होता है या नहीं होता है। इसी आधार पर हम अस्तित्व और नास्तित्व को परस्पर विरुद्ध मानते हैं। किन्तु यदि हमें अनुभव से यह पता चले कि कोई पदार्थ अपने द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव से होता है और दूसरे के द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव से नहीं होता तो हमें यह मानना होगा कि पदार्थ स्वचतुष्टय से होता है और परचतुष्टय से नहीं होता है। इस प्रकार अनेकान्तवाद एक ही पदार्थ का एक अपेक्षा से अस्तित्व और दूसरी अपेक्षा से नास्तित्व मानता है। इसके विपरीत वेदान्ती व्यवहार में जैन के तर्क से सहमत होते हुए भी परमार्थ में जैन के तर्क से सहमत नहीं है। उसका कहना है कि जैन के अनुभव में जो सापेक्षता की दृष्टि से विरुद्ध धर्मों का युगपद् एक में रहना सिद्ध हो रहा है उसी के आधार पर हम भी संसार में व्यवहार करते हैं। अतः व्यवहार में अनेकान्त को स्वीकार किया जा सकता है इसीलिए हम माया को सदसदनिर्वचनीय मानते हैं। इसमें जैन की सप्तभंगी के तीन मूल भंग समाविष्ट हैं। माया प्रतीति में आती है अतः वह सत् है किन्तु वह विलीन हो जाती है, इसलिये असद् है। और क्योंकि सद् असद् युगपद् नहीं रह सकते इसलिए माया अनिर्वचनीय है। **'तदेव मायाया मायात्वं यत्तर्कासहिष्णुत्वम्'**। तर्क की कसौटी पर माया को नहीं कसा जा सकता क्योंकि तर्क की माँग है कि माया या तो सत् हो या असत् किन्तु यह दोनों है अतः इसे तर्क की कसौटी पर नहीं कस सकते। जैन का कहना है कि वेदान्ती जिसे असत् कह रहा है वह तो परिवर्तन अर्थात् उत्पाद व्यय है और जिसे वह सत् कह रहा है वह ध्रुवता है। उत्पाद व्यय और ध्रुवता तो सदा ही साथ-साथ रहते हैं। यही सत् का लक्षण है– **उत्पादव्ययध्रौव्ययुक्तं सत्**। हो यह रहा है कि वेदान्ती सत् का लक्षण पहले निर्धारित कर लेता है कि सत् वह है जो सर्वथा ध्रुव हो और फिर जगत् को मिथ्या घोषित कर देता है।

4. सत्य की तरतमता

डॉक्टर डी. एस. कोठारी सत्य और मिथ्या की सापेक्षता परक एक-दूसरी व्याख्या करते हैं। जब तक जल जल रूप में है तब तक जल सत्य है, किन्तु

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

जैसे ही जल ऑक्सिजन और हाइड्रोजन में बदल जाता है, वह मिथ्या हो जाता है और ऑक्सिजन तथा हाइड्रोजन सत्य हो जाते हैं। किन्तु जैसे ही ऑक्सिजन तथा हाइड्रोजन क्वान्टम अर्थात् ऊर्जा में बदलते हैं, वैसे ही क्वान्टम सत्य हो जाता है तथा ऑक्सिजन और हाइड्रोजन मिथ्या हो जाते हैं। इस प्रकार हम एक सत्य से दूसरे सत्य की ओर चलते हैं न कि असत्य से सत्य की ओर। पण्डित मधुसूदन ओझा इसे दूसरी दृष्टि से इस प्रकार कहते हैं कि मिथ्या में सत्य और असत्य का मिथुनी-भाव रहता है। मिथ्या अलीक का नाम नहीं है अपितु सत्यासत्य के मिथुनीभाव का नाम है। आचार्य शंकर भी 'सत्यानृते मिथुनीकृत्य जगत्प्रवर्तते' कहकर जगत् के मिथ्यात्व की ऐसी ही व्याख्या कर रहे प्रतीत होते हैं।

सत् का लक्षण– वेदान्ती के विपरीत जैन जगत् को सत्य पहले मान लेता है और क्योंकि जगत् उत्पाद-व्यय-ध्रुवात्मक है अतः वह सत् का लक्षण भी उत्पाद-व्यय-ध्रुवात्मकता कर देता है। अभिप्राय यह हुआ सत् के लक्षण के सम्बन्ध में मतभेद होने के कारण यह मतभेद हो जाता है कि जगत् सत् है या नहीं। जिन दर्शनों ने भी जगत् को सत्य माना उन्हें एक न एक रूप में अनेकान्त को मानना ही पड़ा, क्योंकि जगत् है ही त्रयात्मक। ऐसे दर्शनों में सभी वस्तुवादी दर्शन शामिल हैं, यथा पूर्वमीमांसा, सांख्य, योग, न्याय, वैशेषिक तथा चार्वाक। जिन्होंने जगत् को वास्तविक नहीं माना उनके लिये जगत् का त्रयात्मक होना कोई विशेष महत्त्व नहीं रखता क्योंकि उनकी दृष्टि मे जगत् वास्तविक है ही नहीं। फिर भी जो प्रतीति में आ रहा है उसका सर्वथा अपलाप नहीं किया जा सकता। अतः प्रत्ययवादियों ने भी व्यवहार में तो अनेकान्त को स्थान दे ही दिया।

5. वेदान्त का अनेकान्त

अद्वैतवादियों ने अद्वैत की भी एक सीमा बाँधी – भावाद्वैत सदा कुर्यात् क्रियाद्वैतं न कर्हिचित्। क्रिया में अद्वैत नहीं है। द्वैतवादियों ने अद्वैतवाद पर जितने आरोप लगाये वे ये मानकर लगाये कि अद्वैतवादी व्यवहार में भी अद्वैत का अनुमोदन करे। (तुलनीय आप्तमीमांसा– पुण्यपापक्रिया न स्यात् प्रेत्यभावः फले कुतः, बन्धमोक्षौ तेषां न येषां त्वं नासि नायकः) वस्तुस्थिति यह है कि आचार के क्षेत्र में जिस प्रकार जैन अहिंसा, संयम और तप की बात करता है, अद्वैतवादी भी इसी प्रकार 'इहामुत्रार्थभोगविराग और 'शमदमादि षट् सम्पत्' की बात करता है। कारण यह है कि क्रिया अर्थात् व्यवहार में तो अद्वैतवादी भी द्वैतवाद का पालन करता है, दूसरे शब्दों में वह भी व्यवहार की अपेक्षा से अनेकान्ती ही है। रहा प्रश्न परमार्थ का सो अद्वैतवादी के लिये श्रुति का 'एकत्वमनुपश्यतः' वचन प्रमाण है, वहाँ परमार्थ

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

में वह एकान्त का ही समर्थन करता है। इस प्रकार वेदान्ती के अनेकान्त का अनेकान्त यह बनेगा कि व्यवहार की अपेक्षा अनेकान्त है, परमार्थ की अपेक्षा अनेकान्त नहीं है। 'अनेकान्त' को 'अनेकान्तवाद' न बनायें तो उपर्युक्त वक्तव्य सापेक्ष होने के कारण अनेकान्त की सीमा में आ सकते हैं, किन्तु अनेकान्तवादी जैन को अनेकान्त में ऐसी सापेक्षता स्वीकार नहीं है। ठीक भी है, यदि जैन भी ऐसा अनेकान्त स्वीकार कर लेगा तो उसका स्वतन्त्र अस्तित्व ही नहीं रहेगा।

6. समयसारकलश-

ऐसा नहीं है कि जैन मनीषियों ने वेदान्ती की इस स्थिति को न समझा हो। समयसारकलश का एक श्लोक है–

उदयति न नयश्रीरस्तमेति प्रमाणं, क्वचिदपि च न विद्मो याति निक्षेपचक्रम्।
किमपरमभिदध्मो धाम्नि सर्वंकषेऽस्मिन्ननुभवमुपयाते भाति न द्वैतमेव॥

कठिनाई यह हुई कि जैसे ही जैन मनीषी ने अद्वैत की स्थिति समझनी चाही, उसे भी द्वैत का भान ही होना बन्द हो गया – भाति न द्वैतमेव।

7. प्रमाणातीत-

अस्तमेति प्रमाणम्। जब प्रमाण अस्त होता है तो दो सम्भावनायें रहती हैं – या तो हम अप्रामाणिक हो जाते हैं, Illogical हो जाते हैं या प्रमाणातीत हो जाते हैं Supra Logical हो जाते हैं। आगम प्रमाण अनुमान-प्रमाण के आधीन नहीं है कि आगम की हर बात अनुमान या तर्क द्वारा सिद्ध की जायें। आगम एक स्वतन्त्र प्रमाण है जिसका आधार पारमार्थिक प्रत्यक्ष है जिसे वैदिक परम्परा 'साक्षात्कार' शब्द से कहती है। पारमार्थिक प्रत्यक्ष इन्द्रियातीत है जबकि अनुमान का आधार इन्द्रियों द्वारा किये जाने वाले 'भूयोदर्शन' के बल पर प्राप्त व्याप्ति का ज्ञान है। दोनों का भिन्न क्षेत्र है। प्रमाण-व्यवस्था यह होगी कि पारमार्थिक प्रत्यक्ष द्वारा प्राप्त ज्ञान को बतलाने वाला आगम सदा निर्दोष रहेगा, जबकि इन्द्रियजन्य ज्ञान पर टिकने वाला अनुमान सदा हेत्वाभास की शंका से ग्रस्त रहता है। अतः अनुमान या तर्क के आधार पर आगम की साधुता-असाधुता का निर्णय नहीं हो सकता।

8. आगम प्रमाण-

आगम तो श्रद्धा का ही विषय रहेगा। अतः तत्त्वार्थसूत्र में ज्ञान से भी पहले श्रद्धा को रखा है– सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्राणि मोक्षमार्गः। हम तर्क से यह सिद्ध नहीं कर सकते कि अग्नि उष्ण है। यह तो अनुभवगोचर ही है। अतः आचारांग सूत्र है– तक्का तत्थ न विज्जइ, मई तत्थ न गाहिया, सव्वे सरा निवट्ठन्ति। उपनिषदों

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

ने कहा— नैषा मतिस्तर्केणापनेया। निष्कर्ष यह हुआ कि जैन मनीषियों ने सभी भावों को सापेक्ष माना— एको भावः सर्वथा येन ज्ञातः सर्वे भावः सर्वथा तेन ज्ञाताः, सर्वे भावाः सर्वथा येन ज्ञाताः एको भावः सर्वथा तेन ज्ञातः। इसका आधार केवलियों की वाणी है— जे एगं जाणइ से सव्वं जाणइ, जे सव्वं जाणइ से एगं जाणइ। इस वाणी पर जिसकी श्रद्धा है वह सभी सत्यों को सापेक्ष मानता है और अनेकान्त का यही अर्थ समझता है कि सभी सत्य का आधार अनुभव है और क्योंकि अनुभव में सर्वत्र सापेक्षता आती है अतः निरपेक्ष सत्य कुछ भी नहीं है। इस विषय में यह आपत्ति आयी कि फिर तो सापेक्षता सर्वतोग्राही होने से स्वयं ही निरपेक्ष हो गयी। आचार्य महाप्रज्ञ ने इसका यह यह उत्तर दिया कि पंचास्तिकायों का अस्तित्व निरपेक्ष है। अतः अनेकान्त भी अनेकान्तात्मक होगा, न कि एकान्तात्मक। इसके विपरीत वेदान्ती के लिये 'नेह नानास्ति किंचन' की श्रुति प्रमाण है। अतः वह अनेकता को नहीं मानता प्रत्युत दृश्यमान अनेकता को द्वितीय श्रेणी का अर्थात् व्यावहारिक सत्य मानता है और वहाँ अनेकान्त की सत्ता को स्वीकार भी करता है। हमारा निष्कर्ष यह है कि जैन और वेदान्ती के मतभेद का कारण श्रद्धा है, आगम पर विश्वास है। उसमें साधुता-असाधुता का निर्णय तर्क के आधार पर नहीं किया जा सकता। इस निष्कर्ष की पुष्टि में हम दिगम्बर-श्वेताम्बर के पारस्परिक मतभेद का प्रश्न लें। दिगम्बर और श्वेताम्बर दोनों ही अनेकान्तवादी हैं। फिर ये दोनों अपना मतभेद अनेकान्तवाद की सापेक्षता के आधार पर मिटा क्यों नहीं लेते। उत्तर यह है कि इन दोनों के आगम ही भिन्न-भिन्न हैं। वे आगम उनकी श्रद्धा का विषय हैं। दोनों अपनी-अपनी श्रद्धा के अनुकूल अचेलकत्व-सचेलकत्व के पक्ष में तर्क खोज लेंगे किन्तु किसका तर्क ठीक है, यह निर्णय कभी नहीं हो सकेगा क्योंकि यह मतभेद तर्क पर नहीं, श्रद्धा पर टिका है। दोनों को अपने-अपने तर्क ठीक नजर आते हैं, क्योंकि तर्क तो एक निमित्त है, असली कारण श्रद्धा है। मतभेद तर्क के कारण नहीं, श्रद्धा के कारण है। सभी पक्ष अपनी-अपनी श्रद्धा के अनुसार तर्क खोज लेते हैं।

9. तर्क की पकड़ से परे-

सन् 2010 में एक विचित्र परीक्षण हुआ। बेरेलियम नाम की धातु के एक कण के बारे में यह पाया गया कि वह कण युगपद् ऊपर-नीचे अथवा दाँये-बाँये गति कर सकता है। एक ही कण एक ही समय में एक साथ दो विपरीत दिशाओं में गति करे— यह स्थिति तर्क की पकड़ से परे की है। जब यह स्थिति मैंने कुछ चिन्तकों के सामने रखी तो उन्होंने कुल मिलाकर यही कहा कि ऐसा नहीं हो सकता, वैज्ञानिकों को धोखा हुआ है। किन्तु वैज्ञानिकों का स्पष्ट और दृढ़ मत है कि ऐसा ही है। यह अटपटी (Bizzare) स्थिति वास्तविक है, दृष्टि का भ्रम नहीं

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

है। यह स्थिति जैन आचार्यों के भी सामने नहीं आयी थी। अब तक हम प्रकृति से परे को ही अचिन्त्य मान रहे थे–

अचिन्त्याः खलु ये भावा न ताँस्तर्केण योजयेत्।
प्रकृतिभ्यः परं यच्च तदचिन्त्यस्य लक्षणम्॥

अब स्थिति यह कि प्रकृति भी अचिन्त्य हो गयी है। यह अनेकान्तवाद भले न हो, अनेकान्त तो है ही कि एक कण में युगपद् दो परस्पर विरुद्ध गतियाँ देखने में आ रही है। यह अनेकान्त का एक नया ही आयाम सामने आया है जिस पर न जैन, न वेदान्ती और न ही बौद्ध चिन्तकों ने विचार किया है।

वेद के नासदीय सूक्त के सामने अवश्य कुछ ऐसा रहा होगा जिसके लिये ऋषि को कहना पड़ा कि पता नहीं परमात्मा को भी सृष्टि की उत्पत्ति का रहस्य विदित है या नहीं है–

योऽस्या अध्यक्षः परमे व्योमन्।
सो अंग वेद यदि वा न वेद॥

10. भारतीय दर्शनों में अनेकान्त के बीज

हमने अन्यत्र जैनेतर भारतीय दर्शनों में अनेकान्त के बीज खोजे हैं। वस्तुवादियों में सबने अनेकान्त को स्वीकार किया है किन्तु भेद और अभेद के बीच वैशेषिक दोनों को मानकर भी भेद को मुख्य मानता है, जबकि सांख्य दोनों में अभेद को मुख्य मानता है। जैन भेद-अभेद दोनों को समान महत्त्व देता है। डॉ. वाई.जे. पद्मरज्जैया ने अपने ग्रन्थ Jaina Thoeries of Reality and knowledge में इस विषय पर विस्तार से प्रामाणिक रूप में विचार किया है। हमारा निष्कर्ष यह है कि जैन-सम्मत अनेकान्त तो एक वाद के रूप में हमारे सामने है जो केवल जैनदर्शन तक ही सीमित है किन्तु वाद-मुक्त अनेकान्त बहुत व्यापक है। वैदिक परम्परा में भी 'असच्च सच्च परमे व्योमन्' (ऋग्वेद 10.5.7) 'उभयं वा एतत्प्रजापतिर्निरुक्तञ्चा-निरुक्तंच'। 'निरुक्तं परिमितमनिरुक्तमपरिमितम् (शतपथब्राह्मण 6.5.3.7)' तथा तस्य ह प्रजापतेरर्धमेव मर्त्यमासीदर्धममृतम् (शतपथब्राह्मण 10.1.3.2)' आदि वाक्य स्पष्टतः अनेकान्त का प्रतिपादन कर रहे हैं। दार्शनिक युग में पूर्वमीमांसकों ने अनेकान्त का न केवल प्रतिपादन किया, प्रत्युत नामतः भी अनेकान्त का स्मरण किया मीमांसा-श्लोकवार्तिक (वनवाद, 21.22.23) निम्न श्लोक देखें–

वर्धमानकभंगे च रुचकः क्रियते यदा।
तदा पूर्वार्थिनः शोकः प्रीतिश्चाप्युत्तरार्थिनः॥
हेमार्थिनस्तु माध्यस्थ्यं तस्माद्वस्तु त्रयात्मकम्।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

तुलनीय है आप्तमीमांसा (59) और शास्त्रवार्तासमुच्चय (7.478)–

घटमौलिसुवर्णार्थी नाशोत्पादस्थितिष्वयम्।
शोकप्रमोदमाध्यस्थ्यं जनो याति सहेतुकम्॥

इतना ही नहीं, अनेकान्त संशयवाद है– इसका भी निराकरण पूर्वमीमांसा ने सबल शब्दों में किया–

वस्त्वनेकत्वाच्च सन्दिग्धाप्रमाणता।
ज्ञानं सन्दिह्यते यत्र तत्र न स्यात् प्रमाणता॥
इहानेकान्तिकं वस्तु इत्येवं ज्ञानं सुनिश्चितम्।

–(मीमांसाश्लोकवार्तिक, वनवाद 75.79)

वेद भाष्यकार सायणाचार्य ने यह प्रश्न अपनी भाष्यभूमिका में बहुत विस्तार से उठाया है कि वेद में परस्पर विरुद्ध अर्थ के प्रतिपादक वाक्यों में सामञ्जस्य स्थापित करना भाष्यकार का दायित्व है। कहीं 'एक एव रुद्रः' (तैत्तिरीय संहिता 1.8.61) कह दिया गया है तो कहीं 'असंख्याता सहस्राणि ये रुद्रा अधिभूम्याम्' (यजुर्वेद वाजसनेयी संहिता, 16.54) कहा गया है। यह प्रश्न यास्काचार्य ने निरुक्त में भी उठाया और जैमिनी ने भी उठाया। संक्षेप में हम महर्षि अरविन्द के शब्दों में कह सकते हैं कि 'जीवन की सभी समस्याएँ तत्त्वतः सामञ्जस्य की समस्याएँ हैं' (दिव्य जीवन, पृ. 4) जैन आचार्यों ने इस सामञ्जस्य को स्थापित करने का प्रयत्न अनेकान्तवाद के माध्यम से किया किन्तु यह प्रयत्न अन्य दर्शनों में भी अनेकान्त के माध्यम से किया गया। यही अनेकान्त की व्यापकता है। इस लेख में हमने अपने को भारतीय दर्शनों तक सीमित रखा है किन्तु यदि अन्य दर्शनों में भी देखें तो अनेकान्त के बीज मिलेंगे।

जैनेतर ग्रन्थों में अनेकान्त के समर्थन हेतु तुलनीय हैं निम्न ग्रन्थ–

1. महाभाष्य, पस्पशाह्निक पृ. 84-85
2. योगसूत्र, व्यासभाष्य पृ. 13
3. वात्स्यायन, न्यायसूत्र 1.1.41
4. शांकरभाष्य, तैत्तिरीयोपनिषद् 2.6.3
5. शास्त्रदीपिका, पृ. 101

❖❖

अनेकांतवाद या आतंकवाद

दुनिया में दो ही वाद हैं– अनेकांतवाद और आतंकवाद। जो व्यक्ति अनेकांतवादी नहीं होता वह निश्चित रूप से आतंकवादी होता है।

—आचार्य विद्यानन्द मुनिराज

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

क्या गौतम बुद्ध महावीर स्वामी के शिष्य थे?

—प्रो. रमेश चन्द जैन*

'प्राकृत-विद्या' का अप्रैल-जून 2024 का अंक मिला। प्रसन्नता हुई कि आप 'प्राकृत-विद्या' का पुराना स्तर कायम रखे हुए हैं, सभी आलेख पठनीय हैं। पृष्ठ 59 पर जैनधर्म की प्राचीनता के विषय में श्री बालगंगाधर तिलक की एक टिप्पणी पढ़कर एक अंश पर असहमति की अनुभूति हुई, जिसके विषय में लिखने का प्रयास कर रहा हूँ। तिलक ने कहा है कि "गौतम बुद्ध महावीर स्वामी के शिष्य थे।" गौतम बुद्ध और तीर्थंकर महावीर यद्यपि समसामयिक थे, फिर भी बुद्ध उम्र में महावीर से बढ़े थे। आचार्य देवसेन ने दर्शनसार में लिखा है कि भगवान पार्श्वनाथ की परम्परा में पिहितास्रव नामक मुनि का शिष्य बुद्धकीर्ति हुआ, उसने सरयू नदी के तीर पर मछलियाँ पकड़कर भक्षण कर लीं, जिस पर गुरु ने उसे संघ से निकाल दिया। उसने अपना अलग मत चलाया।

बौद्ध ग्रन्थों से ज्ञात होता है कि बोधि-प्राप्ति से पूर्व बुद्ध ने विभिन्न साधना मार्ग अपनाए थे, जिनमें एक जैन मार्ग भी था, जिसका उल्लेख उन्होंने महासिंहनाद सुत्त में किया है। उसमें स्पष्ट लिखा है कि मैं वस्त्र रहित रहा। मैंने आहार अपने हाथ से लिया अर्थात् में पाणिपात्री रहा। न लाया हुआ भोजन किया, न बर्तन में खाया, न घर की ड्योढ़ी में खाया, न खिड़की से लिया, न मूसल कूटने के स्थान से लिया, न गर्भिणी स्त्री से लिया, न मलिन स्थान से लिया, न वहाँ से लिया जहाँ कुत्ता पास में खड़ा था, न मछली, न मांस, न मदिरा ली, न सड़ा मांड खाया, न तुष का मैला पानी पिया, मैं एक बूँद पानी पर भी दयावान् था। क्षुद्र प्राणी की भी मुझसे हिंसा न हो जाय, ऐसा सावधान था। इस तरह कभी तप्तायमान, कभी शीत सहता हुआ भयानक वन में नग्न रहता था। न आग तापता था। मुनि अवस्था में ध्यानलीन रहता था।

---

*E-27, रोहिणी, सेक्टर-1, अवंतिका के पास, नई दिल्ली मोबाईल : 7703858230

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

उपर्युक्त सभी क्रियायें दिगम्बर मुनि की चर्या में मिलती हैं। भगवान् महावीर के माता-पिता भगवान् पार्श्वनाथ की परम्परा में उत्पन्न हुए थे। गौतम बुद्ध का चाचा वटप निर्ग्रन्थों का बड़ा भक्त था। इससे स्पष्ट है कि बुद्ध के पिता भी पार्श्व परम्परा के अनुयायी थे।

बौद्ध साहित्य में निगंठनात पुत्र (निर्ग्रन्थ ज्ञातृ पुत्र) भगवान् महावीर तथा उनके अनुयायी निगंठों (निर्ग्रन्थों) का बहुत उल्लेख हुआ है। जबकि प्राचीन जैन ग्रन्थों में बुद्ध तथा उनके अनुयायियों के उल्लेख बहुत कम हैं। इसका कारण यह है कि बुद्ध के समय निर्ग्रन्थ श्रमणों का बहुत बड़ा और प्रभावशाली सम्प्रदाय था। इस सम्प्रदाय के अपने सिद्धान्त और आचार संहिता थी, जो कि पार्श्वनाथ की परम्परा से प्राप्त थी। इसी परम्परा के नियमों का पालन बुद्ध ने किया था, बाद में यह मार्ग कठिन जानकर मध्यम मार्ग अपनाया। इन सब कारणों से गौतम बुद्ध महावीर स्वामी (जैन तीर्थंकर) के साक्षात् शिष्य नहीं कहे जा सकते। तिलकजी ने उन्हें महावीर स्वामी का शिष्य कहा है, यह बात किसी भी उल्लेख से सिद्ध नहीं होती है। भगवान् महावीर के प्रथम गणधर का नाम इन्द्रभूति गौतम था, जो कि शाक्यवंशी गौतम बुद्ध से भिन्न थे। सम्भवतः तिलक ने नामसाम्य के कारण गौतम बुद्ध को भगवान् महावीर का शिष्य कहा हो। ❖❖

यत्नेनापि न तद् रक्ष्यं भाग्यं नैव यदिच्छति।
भाग्येन रक्षितं वस्तु प्रक्षिप्तं नापि नश्यति॥
दैवस्य प्रबला शक्तिर्यतस्तद्ग्रस्त मानवः।
यदैव यतते जेतुं तदैवाशु स पात्यते॥

—कुरल काव्य/38/6,10

अर्थ— भाग्य जिस बात को नहीं चाहता उसे तुम अत्यन्त चेष्टा करने पर भी नहीं रख सकते, और जो वस्तुएँ भाग्य में बदी हैं उन्हें फेंक देने पर भी वे नष्ट नहीं होतीं। 6। दैव से बढ़कर बलवान् और कौन है, क्योंकि जब ही मनुष्य उसके फन्दे से छूटने का यत्न करता है, तब ही वह आगे बढ़कर उसको पछाड़ देता है। 10।

पौरुषादेव सिद्धिश्चेत्पौरुषं दैवतः कथम्।
पौरुषाच्चेदमोघं स्यात्सर्वप्राणिषु पौरुषम्॥ —आप्तमीमांसा 86

अर्थ— यदि पुरुषार्थ से ही अर्थ की सिद्धि होती हो पुरुषार्थ दैव से कैसे होता है? यदि पुरुषार्थ भी पुरुषार्थ से ही होता है तो पुरुषार्थ तो सभी व्यक्ति करते हैं, सबको फल क्यों नहीं मिलता?

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

तीर्थंकर महावीर की आत्मकथा

—प्रो. अनेकांत कुमार जैन*

अनेक लोगों ने मेरे जीवन के बारे में बहुत कुछ लिखा है, वो सब मेरे ज्ञान का विषय बनता रहता है, परन्तु अपने बारे में कुछ न कहो तो जो अन्यान्य लेखक लिखते हैं उसे ही मानकर चलना पड़ता है, इसलिए मैं आज स्वयं ही अपनी कहानी कहना चाहता हूँ।

मेरा जन्म और बचपन

मुझे मेरी माँ ने ही बताया कि मेरे जन्म के पहले उन्होंने 16 मंगल स्वप्न देखे तो पिताजी ने कहा कि तुम भाग्यशाली हो, तुम ऐसे पुत्र की माँ बनने वाली हो जो धर्मतीर्थ का प्रवर्तन करेगा।

जहाँ तक मुझे याद है जब मैं गर्भ में था तब माता-पिता इस जगत के विषय-भोगों के प्रति अरुचि रखते हुए, बहुत तत्त्वचर्चा करते थे और संसार और शरीर की क्षणभंगुरता का चिंतवन करते हुए, शाश्वत शुद्धात्मा की अनुभूति की बातें करते हुए प्रातः रोज ही उपवन में भ्रमण करते थे। उनकी इन चर्चाओं का असर अनजाने ही मुझ पर उसी समय से होने लगा था।

मेरी माँ प्रतिदिन णमोकार मंत्र की सुबह-शाम कई जाप करती थीं, उस मंत्र की अंतर्ध्वनि और तरंगें मुझे उस समय अंदर ही अंदर महसूस होती थीं। वे प्रतिदिन तीन समय सामायिक भी करती थीं। उनका प्रतिक्रमण और स्तुति मुझे भी विशुद्ध परिणामों से सराबोर कर दिया करती थी।

चैत्र शुक्ला त्रयोदशी को मुझे गर्भबंधन से मुक्ति मिली और वह दुर्लभ मनुष्य जन्म और जैन कुल मिला जो भवबंधन से मुक्ति के पुरुषार्थ के लिए नितांत आवश्यक था। जब मेरा जन्म हुआ तब बहुत प्रकार के लोग आए। कोई उन्हें सौधर्म इंद्र

---

*आचार्य– जैनदर्शन विभाग, श्री लाल बहादुर शास्त्री राष्ट्रिय संस्कृत विश्वविद्यालय, नई दिल्ली-16, मोबाईल : 9711397716, ई-मेल : anekant76@gmail.com, वेबसाईट : www.jinfoundation.com

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

कह रहा था, कोई शचि इंद्राणी।

पता नहीं क्यों वे उस समय मुझे मेरी माँ से अलग करके सुमेरु पर्वत की पांडुक शिला पर ले गए और बहुत भक्ति पूर्वक मेरा जन्माभिषेक भी करवाया। जन्म के अनंतर यह आवश्यक होता होगा। गर्भ में 9 माह सिकुड़ कर रहते-रहते, मैं भी अकड़-सा गया था। थोड़ा अंगड़ाई लेते समय मैंने सहज ही अपने पैर का अंगूठा मेरु से छू दिया तो मानो भूकम्प-सा आ गया, इंद्र घबड़ा गए और मेरी तरफ अत्यंत श्रद्धा से देखते हुए मुझे 'वीर' नाम से पुकारने लगे। मुझ नन्हें बालक को निहार-निहार कर अनेक लोग बहुत खुश हो रहे थे और मेरी भक्ति कर रहे थे। कई लोग रत्नों के मुकुट और हार पहने हुए थे। लोग उन्हें इंद्र और इंद्राणी कह रहे थे। बच्चे को देख आनंदित होना तो समझ आता था, लेकिन उसकी भक्ति करना मेरी समझ के बाहर था। भक्ति तो भगवान् की होती है और मैं बालक था। पता नहीं वे भविष्य की किस अप्रगट पर्याय को प्रगट रूप में देख रहे थे?

मेरे जन्म के समय पूरे वैशाली में उत्सव मनाया गया। मैं जिस महल में रहता था, उसका नाम नंद्यावर्त था। वह सात खंड का था। मुझे खेलने में बहुत आनंद आता था। मैं धीरे-धीरे चंद्रमा की कलाओं की भांति बड़ा हो रहा था। माँ, मुझे रोज देखतीं और कहतीं– आज तो तू कल से भी ज्यादा सुंदर लग रहा है, तू रोज बड़ा हो रहा है। पिताजी ने बताया कि जब से तू माँ के गर्भ में आया, उस दिन से ही पूरे वैशाली की समृद्धि बढ़ने लगी, अतः उन्होंने मेरा नाम वर्धमान रख दिया।

मुझे बचपन से ही प्रकृति और उसके बीच रहना पसंद था। मैं खूब खेलता-कूदता था, कभी नंद्यावर्त की छत पर कुंडग्राम की खूबसूरती निहारता तो कभी सूर्य की तेज रश्मियों से आलोकित प्रकृति को। ये सब देखते-देखते मेरे मन में उसी समय से एक अलौकिक जिज्ञासा का प्रादुर्भाव होने लगा था। मैं मन ही मन सोचता था कि इतनी सुंदर प्रकृति, रंगबिरंगे फूल, फलों से लदे वृक्ष, अरुणाचल में उगता हुआ सूर्य, कलकल बहती नदियाँ, खुले आसमान में कलरव करते उड़ते विहंग, वनों में अठखेलियाँ करते मृग, उपवन में नृत्य करते बहुरंगी मयूर – इतने सुंदर और मनभावन संसार को आखिर क्षणभंगुर क्यों कहा जाता है? माँ बापू इन्हें असार क्यों कहते रहते हैं? यदि ये असार है तो सारभूत क्या है?

पूछने पर मेरे साथ खेलने वाले मित्र जो मंत्रियों और खजांचियों के बेटे थे अक्सर कहते कि ये सब ईश्वर ने बनाया है और सिर्फ यही नहीं बल्कि हमको आपको सबको ईश्वर ने बनाया है। वे समझाते थे कि बिना उसकी मर्जी के

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri
एक पत्ता भी नहीं हिलता। ईश्वर को खुश करने के लिए उनकी पूजन आवश्यक है, वे नाराज हो जाएँ तो सब कुछ तबाह हो सकता है। इत्यादि न जाने कितनी बातें वे मुझे बताते रहते थे। मैं चुपचाप उनकी बातें सुनता और सोच में पड़ जाता। मुझे लगता था कि वास्तविक सत्य कुछ और है। ईश्वर का स्वरूप वैसा नहीं है जैसा ये बताते हैं। वास्तविक सत्य की खोज करने को मैं बहुत उत्सुक हो गया।

मित्र मंडली : अनेकान्तवाद की खोज

एक दिन मैं नंद्यावर्त के चतुर्थ तल पर वातायन की तरफ मुख करके प्रकृति के सौंदर्य का निरीक्षण कर सोच रहा था कि सत्य के बारे में सबकी राय अलग अलग क्यों है, जबकि सत्य एक होता है? इतने में मेरे अनेक मित्र मुझे खोजते हुए मेरे पास आ गए और खेलने की जिद करने लगे। एक ने कहा– वर्धमान, हम तुम्हें एक घंटे से खोज रहे हैं, तुम अब जाकर मिले हो।

दूसरे ने शिकायत के स्वर में कहा कि तुम्हारे माता-पिता के मिथ्या वचनों के कारण ऐसा हुआ। क्या हुआ? ऐसे वचन क्यों कह रहे हो? मेरे माँ-बाप सत्याणुव्रत के धनी हैं, वे कभी असत्य वचन नहीं कहते। –मैंने थोड़ी नाराजगी व्यक्त करते हुए कहा।

इस पर तीसरे ने कहा कि देखो, जब हम नंद्यावर्त में आये तो भूतल पर माता त्रिशला मिलीं। उनसे हमने पूछा कि वर्धमान कहाँ है? तब उन्होंने कहा कि ऊपर है। हम ऊपर सातवें खंड पर गए तो वहाँ तुम नहीं मिले बल्कि पिताजी राजा सिद्धार्थ मिले, तब उनसे हमने तुम्हारे बारे में पूछा तो उन्होंने कहा कि नीचे के तल पर है। हम फिर भूतल पर आए तो भी तुम नहीं मिले। फिर हम सभी ने प्रत्येक तल का निरीक्षण किया। अब तुम चतुर्थ तल पर मिले, इसलिए तुम्हारे माता-पिताजी ने हमसे असत्य वचन कहे हैं।

मैं सोच में पड़ गया। फिर विचार करके मैंने उनसे कहा कि देखो, न मेरे पिताजी ने असत्य कहा और न ही माताजी ने, किन्तु दोनों की वाणी सापेक्षिक सत्य थी। पिता सातवें तल पर थे अतः उनकी अपेक्षा मैं नीचे ही था और माँ भूतल पर थीं, अतः उनकी अपेक्षा मैं चतुर्थ तल पर ऊपर था।

मित्रों में कुछ को कुछ बात समझ में आई और कुछ को नहीं आई। लेकिन उन्हें समझाते-समझाते मेरी बहुत बड़ी समस्या का समाधान हो गया। मैंने सत्य को समझाने के लिए एक नवीन प्रमेय को पा लिया। मुझे सत्य के संदर्भ में यह बात समझ आ गई कि लोग सत्य के बारे में अलग-अलग कथन क्यों करते हैं? दरअसल सत्य बहुआयामी होता है और प्रत्येक मनुष्य जिस स्थान या भूमिका में

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

होता है, वह उसके किसी एक आयाम को देखता है और उसका कथन करता है। इसलिए अलग-अलग दृष्टिकोण सामने आ जाते हैं। मुझे ज्ञात था कि वस्तु अनंतधर्मात्मक है। उसमें परस्पर विरोधी धर्म स्वभाव से ही विद्यमान हैं। वस्तु के वास्तविक स्वरूप के बारे में अपने अंदर के इस रहस्य को बतलाता हुआ मैं बहुत रोमांचित हुआ, मुझे बहुत बड़ी निधि मिल गई थी।

बस, फिर क्या था, मैंने इसका नाम 'अनेकांत' सिद्धांत रख दिया। अब मैं मन ही मन इसके अनेक रूप सोचता हुआ एक दिन नंद्यावर्त के उद्यान में एक झूले पर बैठा आत्मा के स्वरूप का चिंतवन कर ही रहा था कि मेरे भाग्य से उसी समय आकाश मार्ग से चारण ऋद्धिधारी दो दिगम्बर मुनिराज पधारे। उन्हें देख मुझे अपने पूर्वजन्म की स्मृति हो आई, जब मैं सिंह के रूप में जंगल में घूम रहा था और तभी इसी तरह दो मुनिराजों ने आकर मुझे संबोधन दिया था और मुझे रत्नत्रय का पहला रत्न सम्यग्दर्शन मिल गया था।

वे मुनिराज भी वस्तु स्वभाव का ही चिंतन कर रहे थे और उन्होंने पदार्थ के स्वरूप विषयक एक शंका मेरे समक्ष रख दी। मुझे उसका समाधान अनेकान्तवाद से समझ तो आ गया था, लेकिन कहते नहीं बन रहा था। मैं पुनः विचार करते करते नंद्यावर्त की ओर निहारने लगा कि इसी महल में मुझे अनेकान्तवाद समझ आया था, अब उसे कहने के लिए भी यही महल निमित्त बनेगा। मैंने नंद्यावर्त के सात तलों को गिना और महसूस किया कि शंकाएँ सात प्रकार की ही हो सकती हैं, अतः सात प्रकार से ही सही जबाब दिए जा सकते हैं।

स्यादस्ति आदि सात भंग का आइडिया मुझे तभी आया और मैंने सप्तभंग के माध्यम से उन मुनिराजों की शंका का समाधान कर दिया तो वे बहुत संतुष्ट हुए। मैंने भी तभी से सप्तभंग की इस पद्धति का नाम स्याद्वाद रख दिया।

इसे भी मैं एक संयोग ही कहूँगा कि बाद में नैगम, संग्रह आदि सात नय और जीव, अजीव, आस्रव आदि सात तत्त्व विषयक चिन्तन भी इसी सात मंजिले महल में किया। लगता है इसी कारण विहार करने से पूर्व उन्होंने मुझे 'सन्मति' नाम से पुकारा और तब से लोग मुझे सन्मति नाम से भी पुकारने लगे। ऐसा लगता है कि वे मुनिराज 'स' शब्द से सप्तभंग, स्याद्वाद, सप्तनय और सप्ततत्त्व की चर्चा मेरे मुख से सुनकर सुनकर अनुप्रास मिलाते हुए मुझे भी 'स' से सन्मति कहने लगे।

फिर क्या था, मैं अब सभी परिस्थिति, घटना और पदार्थ को सापेक्ष दृष्टिकोण से देखने लगा, मुझे लगा कि लोग व्यर्थ ही संघर्ष करते हैं। उनके संघर्ष का

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

मूल कारण है– एकांतिक दृष्टिकोण। अब मेरी उत्सुकता सत्य को समझने के साथ-साथ सत्य की अनुभूति की ओर भी बढ़ने लगी। मुझे लगता था कि इस संसार में रहकर और मनुष्य जन्म पाकर मैंने यदि अपनी शुद्धात्मा को प्राप्त नहीं किया तो यह जन्म व्यर्थ चला जायेगा।

माता से मैं अक्सर कई जिज्ञासाएँ करता था, वे मेरी सभी जिज्ञासाओं का समाधान भी करती थीं, लेकिन पिताजी से चिंता व्यक्त करती थीं कि वर्धमान बहुत गहरी बातें करता है। बाल्यकाल में ही आज वयस्कों की भांति बातें करता है। उन्होंने बताया कि तुम्हारा पुत्र जन्म से ही मति, श्रुत और अवधिज्ञान का धारी है।

पिताजी उन्हें निश्चिंत करते रहते थे, कहते कि प्रत्येक जीव का परिणमन स्वतंत्र होता है। तुम्हारा सौभाग्य है कि तुम ऐसे पुत्र की माँ हो जो सब जीवों का कल्याण करने वाला है। ये बातें मैं भी सुनता था, लेकिन मेरे लिए ऐसा क्यों कहा जा रहा है– यह समझ में नहीं आता था। मगर यह जरूर लगता था कि इस जीवन का कुछ अर्थ होना चाहिए। जीवन का मुख्य उद्देश्य स्व-पर-कल्याण ही होना चाहिए।

मैं ये बातें अपने मित्रों से भी करता था, लेकिन वे समझते नहीं थे। फिर भी खेल-खेल में मैं उन्हें अहिंसा की बात तो समझाता ही था। एक दिन उपवन में हम खेल रहे थे, खेलते-खेलते जब हम सभी थक गए तो मैंने उनकी थकान मिटाने के बहाने उन्हें ध्यान का अभ्यास करवाया। पद्मासन में बैठकर आंखों को कोमलता से बंद करके अपनी इन्द्रिय-चंचलता को समेटकर आत्मा को देखने का अभ्यास मैंने तब से ही प्रारंभ कर दिया था।

अहिंसा का पहला प्रयोग

एक दिन उसी समय एक सर्प हम सभी के बीच आ गया। हमारे सभी मित्र घबड़ा गए, कुछ भाग गए, कुछ उसकी हत्या करने को भी उत्सुक हो गए। बिडम्बना यह थी कि मैं ध्यान में इतना डूब गया था कि मुझे सर्प का भान तक नहीं हुआ। जब ज्यादा शोर हुआ और मित्र मुझे पलायन को कहने लगे तो मुझे आभास हुआ और मैंने देखा वह सर्प मेरे सामने फण फैलाये बैठा हुआ था। उसी क्षण मैंने उसे शांत भाव से देखा और उसकी पर्याय का निरीक्षण कर उसके भी भीतर विराजमान शुद्ध चैतन्य तत्त्व के दर्शन किये और ये भावना की कि इस जीव का भी कल्याण हो। मुझे आश्चर्य हुआ कि मेरी इस विशुद्ध भावना का सम्प्रेषण (टेलीपैथी) उस सर्प तक हो गया। विशुद्ध परिणामों की तरंगें प्रत्येक जीव तक पहुँचती हैं। वह सर्प बिना किसी को नुकसान पहुँचाए स्वतः वहाँ से

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

चला गया।

मेरे मित्रों को लगा कि जहरीले सर्प से बड़े-बड़े भी भाग जाते हैं लेकिन मैं हिम्मत से वहाँ बैठा रहा और सर्प को भगा दिया। यह प्रसंग पूरी वैशाली में फैल गया। लोग मुझे वर्धमान, सन्मति और वीर नाम से तो पुकारते ही थे, उस दिन से मुझे महावीर भी कहने लगे। मुझे इसमें बहुत बड़े साहस जैसी बात न लग रही थी। मुझे सर्प वाली घटना सहज प्राकृतिक घटना जैसी लग रही थी। लेकिन लोगों को बहुत बड़ी बात लगी। इस घटना से मैंने एक निष्कर्ष निकाला कि मनुष्य अभय इसलिए नहीं है क्योंकि वह करुणाशील नहीं है। उसे वस्तु के स्वरूप का ज्ञान नहीं है। वह दूसरे प्राणियों के प्रति अहिंसक नहीं है इसलिए स्वयं की हिंसा से भयभीत रहता है। तब मुझे लगा कि वास्तव में सुखी होने का और दूसरों को सुखी करने का एक ही उपाय है— अहिंसा। उस दिन मैंने संकल्प किया कि अहिंसा विषय पर पूरा अनुसंधान कर मैं इसे पूरे विश्व को समझाऊँगा।

अहिंसा का दूसरा प्रयोग

बाल्यावस्था के अनंतर मैंने किशोरावस्था में प्रवेश किया। मुझे ध्यान करना, सामायिक करना और संसार की सभी चीजों को जानना –ये प्रमुख चीजें पसंद थीं। मित्रों के साथ नगर-भ्रमण भी मुझे बहुत आनंदित करता था। एक दिन अजीब सा वाकया हुआ, मैं मित्रों के साथ नगर में भ्रमण कर रहा था। अचानक गजशाला से भागे हुए एक विक्षिप्त गजराज नगर में उत्पात मचाने लगे, लोगों को रौंदते और दुकानों को नष्ट करते हुए वे बहुत आतंक पैदा कर रहे थे। शुरू में मित्रों और अन्य राहगीरों की भयाकुलता देख थोड़ा मैं भी भयभीत हुआ, किन्तु फिर विचार किया कि यह भी संज्ञी पंचेन्द्रिय जीव है, जरूर महावत के अत्याचारों से भयाक्रांत होकर विक्षिप्त हो गया होगा।

मैंने एक प्रयोग किया। अत्यंत करुणा, दया और उसके कल्याण की पावन भावना से मैंने उसके समक्ष जाने का साहस किया। मेरी अंतर्ध्वनि से वह अभिभूत हो गया और शांत भाव से खड़ा होकर मात्र अपनी मुखाकृति से अपने दुःख की अभिव्यक्ति करने लगा। मैंने उसे संबोधित करते हुए कहा— हे गजराज! तुम तो स्वयं मंगल स्वरूप हो, जगत का कल्याण करते हो, आज अपने आपे से बाहर कैसे आ गए, मुझसे कहो क्या पीड़ा है? उसने दो-तीन चिंघाड़ भरी, मानो अपनी पीड़ा कह रहा हो, मैं उसकी बात समझ गया। मैंने उससे कहा कि तुम्हारा शरीर बहुत बड़ा है और एक चींटी का शरीर बहुत छोटा, किन्तु दोनों के ही देहालय में शुद्धात्मा विराजमान है। इस शरीर का अभिमान त्याग कर स्वयं के अनंत ज्ञान,

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

दर्शन, वीर्य और सुख युक्त आत्मा का ध्यान करो, इसी में तुम्हारा कल्याण है।

वह बैठ गया, उसकी आँखों से अश्रुधारा बह रही थी, मानो उसका प्रायश्चित्त और प्रतिक्रमण एक साथ चल रहा हो। मैंने प्रेम से सहलाते हुए उसकी सूंड को छुआ तो उसने मुझे अपने ऊपर बैठने का निमंत्रण दिया और मैंने उसकी पीठ पर बैठकर उसे प्रेम से वापस गजशाला में भिजवा दिया। लोग देख रहे थे, कोई उसे पागल कह रहा था, कोई शत्रु का षड्यंत्र, कोई अपशब्द कह रहा था तो कोई करुण पुकार, लेकिन ये दृश्य देख कर नगर की जनता ने भी अहिंसा की ताकत देखी। जो कार्य हथियार युक्त सैनिक नहीं कर पा रहे थे, वो कार्य मधुर संभाषण, तत्त्वज्ञानोपदेश और शुभभावों ने कर दिखाया। मगर लोगों ने हमारे संवाद को नहीं सुना, उन्हें तो बस इतना लगा कि वर्धमान वीर ने इस कोमल अवस्था में विक्षिप्त हाथी पर विजय प्राप्त कर ली, जो कोई और नहीं कर सका, अतः तभी से मुझे 'अतिवीर' संबोधन देने लगे और इस तरह मेरा एक और नाम पड़ गया।

आपको एक और बात बता दूँ, मेरे दिलोदिमाग में जो वस्तु की अनंत धर्मात्मकता वाला अनेकांत सिद्धांत चल रहा था, उसे हाथी के दृष्टान्त के माध्यम से समझाने का आइडिया भी तभी आ गया था और अंधों के द्वारा जो हाथी को टटोल कर अलग-अलग राय देने वाला आइडिया भी मुझे राहगीरों की अलग-अलग बातें सुनकर ही आया था।

संसार, शरीर और भोगों के प्रति सच्ची उदासीनता ने मुझे आत्मविजयी होने के लिए स्वतः ही उत्साहित कर दिया था। मैं नंद्यावर्त में होने वाले नृत्य, संगीत आदि समारोहों में भी बैठता था। मेरी माँ मोहवशात् कुछ ऐसी कोशिशें करती थीं कि मैं महल के सुखों में रम जाऊँ।

इसी कारण अचानक एक दिन कलिंग के राजा जितशत्रु मेरे महल में अपनी कन्या यशोदा का विवाह प्रस्ताव लेकर आये। मुझे लग गया था कि निश्चित ही यह आयोजन मेरी माँ ने पिताजी से कहकर जबरदस्ती करवाया होगा। यशोदा सुंदर राजकन्या थी। वह भी जिनधर्म के तत्त्वज्ञान को समझती थी। हमने आपस में काफी चर्चाएँ कीं। एक बार तो मेरा मन किया कि विवाहपूर्वक गृहस्थ धर्म का पालन करते हुए, भारत वर्ष में प्रथम वैशाली की इस गणतंत्र व्यवस्था को और अधिक लोकतांत्रिक ,सम्पन्न और धर्म शासन युक्त बना कर लोक का कल्याण किया जाय। मुझे पता था यह भविष्य में पूरे विश्व के गणतंत्र और लोकतंत्र का आधार बनेगी।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

किन्तु, तत्क्षण मेरे मन में यह भाव भी आया कि संसार चलाने का यह कार्य तो अनादि से अनंत बार किया है। अब इस मनुष्य जन्म को पाकर, जिनधर्म को पाकर जन्म-मरण के चक्कर से पार होना ही एक मात्र उद्देश्य होना चाहिए, नहीं तो चौरासी भवों का पुनः चक्र प्रारंभ हो जाएगा। विवाह करना बुरा नहीं है, लेकिन जब मुझे यह संकल्प पूर्व से ही है कि मुझे जल्दी दीक्षा अंगीकार करनी है तो व्यर्थ के प्रपंच रच कर क्यों किसी का जीवन दुखी किया जाय।

यह मनोभाव मैंने यशोदा से भी प्रगट किये, वह मेरे विचारों से बहुत प्रभावित हुई और उसने मेरा समर्थन किया और कहा कि यदि आपको नेमिनाथ और राजुल का कथानक स्मरण है तो आप मुझे राजुल से कम न समझें। मुझे उसकी बातें सुनकर बहुत संतोष और प्रसन्नता का अनुभव हुआ।

मेरी माँ को बहुत निराशा हुई। वे सोलह स्वप्नों की भविष्यवाणी सत्य होते देख रही थीं, लेकिन सबकुछ जानते हुए भी उनका मोह उनसे यह सब करवा रहा था। उन्होंने नगर के सुप्रसिद्ध संगीतकार गंदर्भ विशारद सोमदत्त और सोमदत्ताश्री के श्रृंगार युक्त गीत और संगीत का आयोजन सिर्फ मेरे लिए किया। क्यों न हो, किसी भी माँ को यदि उनका बेटा भरी जवानी में वैराग्य की बातें करे तो चिंता हो ही जाती है। लेकिन मेरे पिताजी निश्चिंत रहते थे, अतः माँ के निर्णयों में टोकाटोकी करके झंझट मोल नहीं लेते थे। उन्हें पता था कि क्या चल रहा है और क्या होने वाला है। वे जानते थे कि हम सभी अपने मिथ्या विकल्पों के गुलाम होते हैं और मात्र उन विकल्पों की पूर्ति के लिए व्यर्थ पुरुषार्थ करते हैं। बाकी जो होनहार है वह तो होकर रहेगी।

सोमदत्ताश्री जब विविध प्रकार से श्रृंगार गीत गा-गा कर हार गई तो उसने मुझे खुश करने के लिए वैराग्य गीत भी सुनाए, उसके वैराग्यपूर्ण गीत मेरे मन को भाने लगे। मैंने अंदर ही अंदर निश्चय किया कि मैं परम सत्य की खोज पूरी करके रहूँगा। मैं स्वयं को जानना चाहता था, मैं कौन हूँ? मेरा स्वरूप क्या है? सच्चा सुख कहाँ है? मुझे लगा कि जब तक मैं इंद्रियों के वशीभूत रहूँगा, तब तक मैं आत्मसाक्षात्कार नहीं कर पाऊँगा। परिजनों, रिश्तेदारों मित्रों आदि ने मुझे समझाया कि वृद्धावस्था में निष्क्रमण करना, लेकिन मुझे लगा कि यह भव भव का अभाव करने के लिए मिला है, न कि प्रतीक्षा के लिये, इसलिए 'अभी नहीं तो कभी नहीं' की भावना मेरे मन में प्रबल हो गई।

त्याग का प्रयोग

इसलिए मैंने राजपाट का त्याग कर दिया। मुझे अपना मनुष्य भव सार्थक

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

करना था। राजपाट सँभालने वाले बहुत हैं। मैं नहीं करूँगा तो कोई और कर लेगा। पर खुद का कल्याण तो मुझे स्वयं ही करना होगा। मेरी उम्र लगभग 30 की रही होगी, मुझे ज्यादा देर करना उचित नहीं लगा, मुझे लगा महलों में रहकर और बन्धनों में रहकर मैं पूर्ण स्वतंत्रता की खोज नहीं कर सकता। मैंने स्वयं ही दीक्षा ले ली। मैंने समस्त आभूषणों सहित वस्त्रों का भी पूर्ण त्याग कर दिया। मुझे वीतरागता पसंद थी, वस्त्रों को तो छोड़ो, मुझे इस शरीर से भी राग नहीं बचा था। मैं दिन-रात तपस्या करता हुआ पूरे मगध में भ्रमण करने लगा।

मैंने वस्तु के वास्तविक स्वरूप का निर्णय करने में और आत्मसाक्षात्कार करने में स्वयं को पूर्ण रूप से समर्पित कर दिया। मैं जहाँ जाता लोग मुझसे आशीर्वाद माँगते और उपदेश की अपेक्षा करते। लेकिन मैंने भी निर्णय कर लिया था कि जब तक मैं पूर्ण ज्ञान को प्राप्त न कर लूँ तब तक कोई उपदेश नहीं दूँगा और एक द्रव्य दूसरे द्रव्य का कर्त्ता नहीं है —यह मेरा पक्का निर्णय था, इसलिए मैंने कभी आशीर्वाद की मुद्रा भी नहीं बनाई, मैं एक हाथ पर अपना दूसरा हाथ रख कर पद्मासन का प्रयोग करता था और नासाग्र दृष्टि रखकर आत्मध्यान करता था। यही मेरा प्रवचन था और यही मेरा सन्देश, लेकिन भव्य जीव ही इस भाव को ग्रहण कर पाते थे। कायोत्सर्ग की मुद्रा से मैं शरीर के प्रति ममत्व त्याग का उपदेश देता था, और समझने वाले समझ जाते थे। बारह वर्षों तक मैंने मौन साधना की, उपदेश दिया, लेकिन मुँह से नहीं, अपनी चर्या से, साधना से।

फिर एक दिन ऐसा हुआ कि मुझे लोकालोक, भूत भविष्यत् वर्तमान, सभी द्रव्य और उनकी प्रत्येक पर्यायें स्पष्ट प्रत्यक्ष दिखने लगे, लेकिन मुझे अब दुनिया जानने का प्रयोजन रह ही नहीं गया था, मुझे अपना शाश्वत आत्मतत्त्व प्राप्त हो गया था, अनुपम असीम अतीन्द्रिय आनंद, सुख का अविनश्वर सरोवर मेरे भीतर प्रगट हो गया था, अब कुछ और पाना शेष नहीं था, मात्र केवलज्ञान और उसका आनंद।

मुझे इस तरह का एहसास भी हुआ कि मेरे जन्म के समय जो सौधर्म इंद्र आये थे वे पुनः आ गए हैं और पूजा अर्चना भी करने लगे, कुबेर भाई पता नहीं किन व्यवस्थाओं में लगे हैं। इन सब बाहरी चकाचौंध से पहले साधनाकाल में मुझे बहुत तकलीफ होती थी, लेकिन अब अंदर का अतीन्द्रिय सुख ऐसा अनुपम और अलौकिक था कि बाहर कुछ भी होता रहे, मुझे कोई फर्क नहीं पड़ता था। मैं बाहर कोई भी यत्न नहीं करता था, मेरा सारा पुरुषार्थ अब सहज हो गया था। मेरा गमन, विचरण, उठना, बैठना सब कुछ सहज था और क्यों हो रहा था मुझे नहीं मालूम, न ही मैंने जानने का कभी प्रयास किया।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

कुछ तो अलौकिक था, मैं शांत रहता था और लोग मुझसे उपदेश की अपेक्षा रखते थे। सबसे ज्यादा चिंता सौधर्म को होती थी। सभी वस्तु का स्वरूप समझना चाहते थे, वास्तविक धर्म और आत्मानुभूति का उपाय जानना चाहते थे। लोग चिंतित हो रहे थे, रोज मेरे पास आते। मुझे चातक की भाँति निहारते, कुछ प्रतीक्षा करते और चले जाते। ऐसा क्रम 66 दिन तक चला। मेरा परिणमन भी सहज था, मैं कुछ कहने से स्वयं को रोक भी नहीं रहा था और कुछ कह भी नहीं रहा था।

सौधर्म ने अपनी पहुँच से कुछ ऐसा जाना कि वस्तु तत्त्व की सूक्ष्मता को समझने वाला कोई विद्वान् पंडित इस सभा में नहीं है, संभवतः इसलिए मैं मौन हूँ। लेकिन न मैं मौन था और न अमौन, बस जो था सो था, लोग अपने मन से अन्यान्य कयास लगा रहे थे। इतने में एक ब्राह्मण विद्वान् मुझे अपने करीब आते दिखाई दिये, उन्हें देखकर मुझे लगा कि ये ज्ञानी जीव हैं, भव्यात्मा हैं। बस, मेरे माध्यम से ओंकार की ध्वनि होने लगी। मुझे लगने लगा कि अपनी अनुभूतियों से जो सत्य मैंने समझा है वह सारा उड़ेल दूँ। उन विद्वान् पंडितजी का नाम इंद्रभूति गौतम था, वे अपने साथ अन्यान्य विद्वानों को लेकर आये थे। पहले मैंने सोचा उस परम रहस्य को इन्हें संस्कृत भाषा में समझाऊँ, फिर लगा कि ऐसे तो अहिंसा धर्म की सत्यता अन्य जनसामान्य तक न पहुँच सकेगी, उन दिनों जब बारह वर्ष तक मैंने भ्रमण किया था तब मैंने देखा था कि अधिकांश लोग प्राकृत भाषा में संभाषण करते हैं, उनकी यही मातृभाषा है, अतः स्वतः ही प्राकृत भाषा में मेरी पूरी बात रूपांतरित होने लगी। मेरे मन में हमेशा से सभी छोटे-बड़े जीवों के प्रति करुणा का भाव रहा, अतः मुझे देखने-सुनने नर-नारियों के साथ-साथ अनेक पशु-पक्षी आदि तिर्यंच भी आने लगे।

मुझे लगता था कि प्रत्येक जीव मात्र अपनी भूलों के कारण दुखी है और अपनी भूलों को सुधार कर वह सुखी हो सकता है। लोग मुझसे शरण माँग रहे थे और मैं उनसे कह रहा था कि तुम्हारी शुद्धात्मा ही तुम्हारी वास्तविक शरण है। मैं चाहता था कि ये जो मेरे चरणों को पूज रहे हैं, ये मेरे आचरण को धारण करें और स्वयं मेरे समान बनकर सुखी हो जाएँ।

अंत में मुझे यह लगने लगा कि बहुत कह लिया, जो वास्तविक सत्य मैं अपनी आत्मा से प्रत्यक्ष देख रहा हूँ वह कहा नहीं जा सकता, मैंने जितना जाना उसका अनंतवाँ भाग ही प्ररूपित हो पाया, ज्यादा हो भी नहीं सकता था। जो स्वयं जाना जा सकता है वह कोई और नहीं बता सकता, अतः मैंने 'स्वयं सत्य खोजें और आत्मसाक्षात्कार करें' कहकर बिहार के पावापुर क्षेत्र में दीपावली के

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

दिन प्रातः पूर्ण समाधि धारण कर ली, क्योंकि मुझे सिद्ध पद में स्थित होना था। मेरा शरीर कपूर की तरह उड़ गया, मैं निराकार ब्रह्म स्वरूप सिद्ध बनकर लोकाग्र में स्थित हो गया और अपने ही शुद्ध स्वभाव में जमकर पूर्ण हो गया। इसे लोग कहने लगे कि मेरा निर्वाण हो गया।

मैंने अपना कार्य तो कर लिया और आप सभी को मेरे समान ही शाश्वत अविनाशी सुख प्राप्त करने का मार्ग भी बता दिया। अब यदि स्वयं का कल्याण करना है तो आप चाहें तो मेरा अनुसरण कर सकते हैं। यह मार्ग सच्चे सुख का मार्ग है, ध्यान रखियेगा मैंने किसी भी संप्रदाय या पंथ का प्रतिपादन नहीं किया, मैंने आत्मधर्म और मोक्षमार्ग बतलाया था। मेरा यह स्पष्ट मानना था कि कोई भी जीव अपने वास्तविक स्वरूप को समझ कर पूर्ण सुखी हो सकता है। संप्रदाय, जाति, भाषा, वेशभूषा, देशक्षेत्र ये बाधक तत्त्व नहीं हैं, बाधक हैं हमारे अन्दर के राग और द्वेष, और साधक है एक मात्र वीतरागता। जो वास्तव में सच्चे अर्थों में अपना कल्याण करता है, वो ही पर का भी सच्चा कल्याण कर सकता है।

मैं देखता हूँ लोग धर्म के नाम पर दूसरों के कल्याण की चिंता ज्यादा करते हैं और खुद की उन्हें खबर ही नहीं रहती। मैं यह भी देखता हूँ कि लोग मंदिर में मेरी आकृति को प्रतिष्ठित करके मेरे गुणों की आराधना करते हैं, मुझे जोर-जोर से भक्तियाँ सुनाते हैं लेकिन मेरी सुनते नहीं हैं, बहुत कम लोग हैं जो शास्त्रों का स्वाध्याय करते हैं, मैंने जो कहा उसे पढ़ते और सुनते हैं।

मैं देखता हूँ संसार-दुखों से भयाक्रांत भोले श्रावक जोर-जोर से बोलते हैं– 'वर्तमान को वर्धमान की आवश्यकता है', लेकिन हे भव्य जीवों, भोले लोगों, मुझे वर्तमान की आवश्यकता तनिक भी नहीं है, मैं जिस शाश्वत पद पर स्थित हो गया हूँ, वह एकतरफा मार्ग है, वहाँ जाया जा सकता है, वहाँ से आया नहीं जा सकता। और यदि ऐसा हो भी तो मैंने जिस अतीन्द्रिय सुख को इतने जन्मों के पुरुषार्थ से प्राप्त किया है, क्या तुम चाहोगे कि मैं उसे छोड़कर पुनः संसार में आ जाऊँ? निश्चित ही तुम भी कहोगे– नहीं, क्योंकि तुम स्वयं को मेरा भक्त कहते हो, मेरा हित तो तुम भी चाहते ही हो।

लेकिन अब मेरे भीतर किसी भी प्रकार की कोई चाहत आदि नहीं है, जब थी तब यही थी कि स्वयं को मेरा भक्त कहने वाले मेरे समान ही भगवान् बन जाएँ और यदि वास्तव में मेरी सच्ची भक्ति करना चाहते हो तो स्वयं को जानो, पहचानो और उसी में रम जाओ, मैं मान लूँगा– तुम मेरे वास्तविक भक्त हो।

❖❖

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

कविवर दौलतराम की भक्ति-भावना

—डॉ. नेमचंद जैन*

हिंदी-साहित्य के इतिहास के लगभग संपूर्ण पूर्वार्द्ध में एक आंदोलनकारी धारा अपने पूर्ण वेग से प्रवहमान थी। जिसका नाम था– 'भक्ति साहित्य'। इसी धारा में जैन कवियों का भी असाधारण योगदान रहा। उनमें से कुछ जैन कवियों पर तो भक्ति का प्रभाव इस धारा के सार्वजनीन रूप से रुक जाने के बाद भी रहा। उन्हीं में से एक थे– 'कविवर दौलतराम'।

साहित्य और धर्म का संबंध

यद्यपि कुछ साहित्यालोचक विद्वानों द्वारा जैन साहित्यकारों पर सांप्रदायिकता का आरोप लगाकर उन्हें और उनकी रचनाओं को साहित्य की कोटि से बाहर रखने का मंतव्य प्रगट किया जाता है। परंतु, यदि उनका मन्तव्य मान्य किया जाए, तो लगभग समस्त भक्तिकालीन एवं उसके पहले और बाद का भी जितना भी वैष्णव साहित्यकारों द्वारा लिखा गया साहित्य है, उसे भी, साहित्य की श्रेणी से बाहर कर देना होगा, क्योंकि वह भी किसी ना किसी देव/मान्य ईश्वर की आराधना–गुणगान में ही लिखा गया और यदि ऐसा हुआ, तो फिर, एक बहुत बड़े कालखंड के साहित्य को साहित्य ना मानने से हिंदी-साहित्य की प्रवाहात्मकता तो भंग होगी ही, साथ ही, साहित्य के नाम पर बचेगा भी क्या? संभव है, ऐसी ही आशंका से, कुछ निष्पक्ष विचारक इतिहासकारों ने धर्म और साहित्य का संबंध स्थापित किया हो। आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी का कथन इस संबंध में अवश्य दृष्टव्य है, वे लिखते हैं–

"धर्म से साहित्य का अच्छे संबंध है, धार्मिक साहित्य मात्र होने से कोई रचना साहित्य की कोटि से अलग नहीं की जा सकती।"[1]

हिंदी-साहित्य को दौलतराम की देन

हिंदी-साहित्य को जैन साहित्यकारों की देन पर डॉ. मूलचंद शास्त्री लिखते

---

*असिस्टेण्ट प्रोफेसर, हिंदी विभाग, श्री कुंदकुंद जैन स्नातकोत्तर महाविद्यालय, खतौली, जिला–मुजफ्फरनगर, उत्तर प्रदेश-251201 मो.: 6395460812

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri
हैं– "हिंदी का जो ऐतिहासिक रूप हमें उपलब्ध होता है, वह जैन कवियों की ही देन है। उन्होंने लोकरुचि का समादर करते हुए कुछ ऐसी रचनाएँ समाज को दी हैं, जिनका सांस्कृतिक दृष्टि से बड़ा महत्त्व है।"

दौलतराम समय के उस खंड में विद्यमान थे जब देश का हिन्दी-साहित्य रीतिकालीन शृंगार की मादकता को छोड़कर आधुनिकता के रंग में रँगने को तत्पर था। परंतु आपकी लेखनी इन दोनों ही रंगों से, जल से कमल की भाँति भिन्न रहते हुए साहित्यिक श्री वृद्धि करने में प्रवत्त हुई, क्योंकि आपका उद्देश्य जगत के प्राणी-मात्र को एकमात्र वीतरागता का पोषक धर्मोपदेश देकर कल्याणोन्मुख करना था। यह कार्य आपने अपनी संस्कृति से प्रभावित होकर हिंदी साहित्य के स्वर्णिम युग (मध्यकाल) की संत परंपरा के कवियों की भाँति निर्गुण-निरंजन, निराकार परमात्मा तथा तुलसीदास, सूरदास आदि सगुण भक्त कवियों की भाँति उस परमात्मा को बताने वाले पुराण-पुरुषों एवं गुरुओं का गुणगान करके किया। इस प्रकार हम देखेंगे कि कविवर ने अपनी भक्ति-भावना की अभिव्यक्तियों के माध्यम से परमात्मा के निर्गुण और सगुण दोनों रूपों में सामंजस्य स्थापित करने का सफल प्रयास किया है।

मध्यकाल के साहित्य का अवलोकन करने पर हम पाते हैं कि जैन साहित्य की ही भाँति संपूर्ण हिंदी साहित्य भी धार्मिक-विषयों से व्याप्त रहा। इस युग के अनेक संतों–भक्तों दादू दयाल, सुन्दरदास, दयाबाई आदि पर जैन कवियों की प्रवृत्तियाँ लागू होती हैं।

सभी कवियों ने अपने किसी न किसी आराध्य के प्रति अपनी भक्ति भावना प्रगट की है। कविवर दौलतराम ने भी अपने आराध्य-विशेष के प्रति भक्ति-प्रसून तो समर्पित किये ही हैं, परंतु अधिकतर भक्तियों में अपने आराध्य के गुणों का गान करके उनकी महिमा में चार चाँद लगाए हैं। इस संबंध में डॉ. मूलचंद जैन शास्त्री लिखते हैं–

"जैन साहित्य में तो भक्ति की धारा अजस्र रूप से भक्तिकाल के पश्चात् भी होती रही। इस काल की समस्त प्रवृत्तियाँ न्यूनाधिक रूप में जैन कवियों के पदों में उपलब्ध हैं। जैन कवियों ने लोक प्रचलित कथाओं में भी स्वेच्छा अनुसार परिवर्तन कर सुंदर काव्य रचनाएँ की हैं।"

पंडित दौलतरामजी उपर्युक्त कसौटी पर पूर्ण खरे उतरते हैं। उन्होंने शिव और सुंदर की स्थापना के लिए धार्मिक आचरण में आई शिथिलता, आडंबर आदि के प्रति शांतविरोधस्वरूप मानव समाज को भारतीय संस्कृति, महापुरुषों के जीवन चरित्र एवं उनकी उपलब्धियों का बोध कराके हिंदी साहित्य लेखन में नींव के

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

पत्थर का काम किया है।

भक्ति का स्वरूप एवं दौलतराम की भक्ति-भावना

आचार्य परशुराम चतुर्वेदी का मानना है– "भक्ति का सर्वप्रथम उल्लेख 'श्वेताश्वेतर उपनिषद' (6/33) में मिलता है। मोनियर विलियम्स के अनुसार 'भक्ति' शब्द की व्युत्पत्ति 'भज्' से की जा सकती है। इसके आधार पर यह कहा जा सकता है कि भक्ति-भावना आर्यों के दार्शनिक एवं आध्यात्मिक विचारों के फलस्वरूप क्रमशः श्रद्धा-उपासना से विकसित होकर उपास्य भगवान के ऐश्वर्य में भाग लेना (भज् = भाग लेना) जैसे व्यापक भाव में परिणत हुई।"[4]

अधिकतर जैन शास्त्रों में भक्ति और पूजा का स्वरूप बताते हुए 'आराध्य के गुणों के प्रति हृदय में अनुराग (प्रेम भाव) उत्पन्न होने को भक्तिरूप में प्रतिपादित किया। वहाँ, पूजा के दो भेद द्रव्य-पूजा और भाव-पूजा करते हुए, अरहंतादिक परमेष्ठी (परम अर्थात सर्वोच्च-आदर्श पद में स्थित) के गुणों में एकाग्रचित्त होकर अन्य समस्त विकल्प-जाल छोड़कर गुणों में अनुरागी होने तथा उनके प्रतिबिंब का ध्यान करने को भाव-पूजा तथा अरहंत के प्रतिबिंब का वचन द्वार से स्तवन करना, नमस्कार करना, तीन प्रदक्षिणा देना, अंजुलि मस्तक चढ़ाना, जल-चंदन आदिक अष्ट द्रव्य उनके सम्मुख चढ़ाने को द्रव्य-पूजा कहा।'[5] पूज्यपाद आचार्य 'अरहंत, आचार्य, उपाध्याय आदि बहुश्रुतवंतों और श्रुत अर्थात् शास्त्र-जिनवाणी के प्रति भावों के विशुद्धिपूर्वक प्रशस्त (पवित्र) अनुराग को भक्ति कहते हैं।'[6] आचार्य जयसेन के अनुसार–'व्यवहार से सराग सम्यग्दृष्टियों के जो पंच परमेष्ठियों की आराधनारूप भक्ति है वह सम्यक्त्व है, और निश्चय से वीतराग सम्यग्दृष्टियों के जो शुद्धात्म तत्त्व की भावनारूप भक्ति है वह सम्यक्त्व कहलाती है।'[7]

इस प्रकार जैन शास्त्रों के भावानुसार जो स्वरूप भाव-भक्ति का है वही भाव-पूजा का तथा जो स्वरूप द्रव्य-पूजा का है वही द्रव्य-भक्ति का सिद्ध होता है।

जैन मान्यतानुसार भगवान किसी का अच्छा या बुरा कुछ नहीं करते, बल्कि उन्हीं जैसा बनने के लिए, भक्त उन्हें अपना आदर्श बनाकर उनके प्रति अपनी भक्ति-भावना प्रगट करता है। उसकी भावना में आराध्य के प्रति बहुमान, उन्हें कर्तादि निमित्त की अपेक्षा से कहने का व्यवहार है। आचार्य समंतभद्र तीर्थंकर वासुपूज्य की स्तुति करते हुए 'स्वयंभूस्तोत्र' में लिखते हैं–

न पूजयार्थस्त्वयि वीतरागे, न निन्दया नाथ विवान्तवैरे।
तथापि ते पुण्यगुणस्मृतिनः, पुनाति चित्तं दुरिताञ्जनेभ्यः॥ 8॥

अर्थात्, हे नाथ! यद्यपि आपको ना तो पूजा से कोई प्रयोजन है और ना ही

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

निंदा से कोई खेद-खिन्नता; क्योंकि आप समस्त राग-द्वेष के परिणामों से रहित (परम वीतरागी) हो गए हो, तथापि आपके पवित्र गुणों का स्मरण लोगों के पापों से मलिन हृदय को पवित्र कर देता है।

इसी प्रकार के विचारों की समन्वयपूर्ण अभिव्यक्ति कविवर दौलतराम की देव-शास्त्र-गुरु सम्बन्धी भक्तियों में प्रगट हुई है। आपने अपने अनेक पदों में अपने आराध्यदेवादिक के प्रति भक्ति-सुमन अर्पित करते हुए उन्हें राग-रहित वीतरागी बताया; साथ ही वहाँ, स्वयं तथा अन्य को भी संबोधित करते हुए वैसा ही (राग छोड़कर वीतरागी) होने की भावना भायी प्रेरणा दी है।

देव-भक्ति

दौलतराम व अनेक जैन विद्वानों के अनुसार 'देव-भक्ति' के अन्तर्गत 'सच्चे देव' का जो स्वरूप-वर्णन किया गया, उसका भाव कुछ इस प्रकार है—

जब, संसार-शरीर-भोगों से विरक्त हुए किसी पुरुष के, मुनिधर्म धारण होने पर, स्वात्मसाधना के बल से, संसार दुःख के कारणभूत और स्वात्मोपलब्धि में बाधक समस्त कर्मों का अभाव होने पर, वीतरागता (अनन्त आत्मशान्ति), अनन्त आत्मिक आनन्द एवं अतीन्द्रिय – अनन्त ज्ञान (कैवल्य/सर्वज्ञता) आदि प्रगट होने पर, संसार-दुःखों से पीड़ित –मुक्तिकामी –मुक्ति –निकट (भव्य) –पात्र–जीवों के निमित्त से, प्रमुखतः देवनिर्मित धर्मसभा (समवशरण) में, यत्नरहित व अनिच्छापूर्वक, सर्वांग से, संसार-मोक्ष के यथार्थ स्वरूप की निरूपक, निरक्षरी देशना (दिव्यध्वनि) खिरती है; तथा वह, राग-द्वेषादि आन्तरिक; भूख-प्यासादि शारीरिक तथा आयुध-अम्बर-स्त्र्यादि संबंधी समस्त दोषों से रहित तथा परम औदारिक (रक्त-मांस, मल-मूत्रादि से रहित) शरीर सहित होता है, उसे सच्चा देव कहते हैं।

इस अवस्था में भी, शेष बचे आयु आदि समस्त कर्मों का भी अभाव होने पर उनके सम्यक्त्व आदि आठ मुख्य व अनन्त आत्मिक गुण प्रगट होने पर, वे संसार-समुद्र से पार अर्थात् जन्म-मरण से मुक्त होकर, अनन्तानन्त काल तक के लिए, विकार, शरीर, आदि से रहित शुद्ध-पवित्र चैतन्य रूप हो, अविनाशी– मोक्ष दशा को प्राप्त कर, सिद्धालय (लोकाग्र) में जा स्थित हो जाते हैं।[9]

देव के प्रति व्यक्त भक्ति-भावना के कुछ-एक उदाहरण दृष्टव्य हैं—

राग बिना सेवक-जन-तारक, मारक मोह न द्वेषा हैं।[10]

उपर्युक्त पदांश के अनुसार, आराध्य (वीतरागी देव) का कैसा अद्भुत अथवा विरोधाभासपूर्ण स्वरूप है कि उन्हें किसी के भी प्रति, किसी भी प्रकार का, भले अथवा बुरेपने का भाव नहीं रहा, तो भी, उनके सेवक (आराधक) उनकी शरण में

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri
आकर स्वयं ही, उनकी स्वात्मसाधना व स्वात्मप्राप्ति से प्रेरित होकर, स्वयं भी वैसी ही स्वात्मसाधना करके भवोदधि से तिर जाते हैं; जिसका आरोप उन पर आता है कि उन्होंने ही सेवकों को तारा (उद्धार किया)।

इसी पदांश के उत्तरार्द्ध में भी उनके ऐसे ही एक अद्‌भुत और विचित्र स्वरूप का उल्लेख किया है कि उन्हें किसी से द्वेष नहीं रहा है, तो भी उन्होंने मोह को मार दिया है। दरअसल, हमें उनका यह बिना द्वेष के भी 'मोह-मारक' स्वरूप इसलिए अविश्वसनीय लगता है, क्योंकि हमारी दुनिया में ऐसा कहीं भी देखने में नहीं आता कि कोई किसी को बिना ही द्वेषभाव के मार दे। दरअसल, उनके साथ ऐसा इसलिए हो जाता है, क्योंकि वे तो रागदि रहित वीत-रागी-द्वेषी हो गए हैं, सबके किसी भी प्रकार के व्यवहार से अप्रभावित रहते हैं, ऐसी स्थिति में कोई उनसे राग अथवा द्वेष करता है तो भले ही करता रहे, परंतु उनकी तरफ से कोई प्रतिक्रिया नहीं मिलने पर, एक स्थिति वह आती है कि सामने वाला (रागी अथवा द्वेषी) ही अपने प्रयत्न करते-करते थककर चूर हो जाता और स्वयं ही समाप्त हो जाता है। इसी स्थिति को जैन दर्शन में उन (वीतरागी देव) का 'मोह- मारकपना' कहा गया है।

इसीप्रकार—

परम विराग-ज्ञानमय तुम, जाने बिन काज सर्यो ना।[11]

पदांश में, दौलतराम अपने आराध्य देव को सर्वोच्च स्तरीय, रागादि से रहित तथा अनन्त एवं स्वाभाविक ज्ञान (केवलज्ञान) से युक्त बताकर कह रहे हैं कि उन्हें/आपको जाने बिना किसी का कुछ भी करना सार्थक नहीं होगा, व्यक्ति का देव के सच्चे और पूर्ण स्वरूप को जान-समझकर, उसका अपने स्वरूप से मिलान करके ही, अपनी करनी सार्थक होगी —मुक्तिद्वार खुलेगा।

इसी प्रकार निम्न पद में कविवर सामान्य प्राणी को निरंतर देवाराधन की प्रेरणा दे रहे हैं—

घड़ी-घड़ी पल-पल छिन-छिन निशदिन, प्रभुजी का सुमिरन कर ले रे॥ टेक॥
प्रभु सुमिरे तें पाप कटत हैं, जन्म-मरण दुख हर ले रे।
मन-वच-काय लगाय चरण चित, ज्ञान हिये बिच धर ले रे।
दौलतराम धरम-नौका चढ़ि, भवसागर तैं तिर ले रे॥[12]

शास्त्र-भक्ति

शास्त्रों के स्वरूप और उनकी महिमा का गान करते हुए आगम-ग्रन्थों में बताया गया है कि वीतरागी (जिनेन्द्र) देव की ओंकारमयी दिव्यध्वनि तथा उन्हीं की परम्परा में गणधरों— प्रतिगणधरों— अंगधरों— आचार्यों तथा विद्वानों द्वारा

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

उपदिष्ट– लिखित; संसार-दुःखों के कारक राग-द्वेष-मोह भावों से जीवों को छुड़ाकर वीतरागता की प्राप्ति के मार्ग में लगाने वाली देशना ही मंगलकारी होती है। वही लिखित रूप में सच्चे शास्त्र कहलाती है।[13]

शास्त्रों के प्रति कृतज्ञतापूर्ण भक्ति-भावना निम्न उद्धरण में प्रगट है–

जिनबैन सुनत मोरी भूल भगी ॥ टेक ॥
कर्म स्वभाव भाव चेतन को, भिन्न पिछानन सुमति जगी।
'दौल' अपूरब मंगल पायो, शिव-सुख लेन हौंस उमगी ॥[14]

उपर्युक्त पद में कवि ने शास्त्र (देव-गुरु की वाणी) सुनने से हुए लाभ बताए हैं कि अब मुझे कर्मों और आत्मा के स्वभाव की भिन्नता का ज्ञान हो गया, जिससे मेरी समस्त भ्रमणाएँ मिट गईं और अब मुझे मोक्षसुख प्राप्त करने की लगन लग गई है। यही शास्त्रों के गुणगानरूप भक्ति है।

गुरु-भक्ति

कविवर की आत्माराधक गुरुओं के प्रति असाधारण व अनन्य भक्ति- भावना है, जो कि उनकी अमरकृति 'छहढाला' में पाँचवीं ढाल के प्रथम ही काव्य में हृदयस्पर्शी शब्दावलि में बँधकर प्रगट हुई, जो निम्न प्रकार है–

मुनि सकलव्रती बड़भागी, भव-भोगन तैं वैरागी।
वैराग्य उपावन माई, चिन्तैं अनुप्रेक्षा भाई॥

तदुपरान्त आपने, छठवीं ढाल तो आधी से भी अधिक गुरुओं की महिमा–गान में ही समर्पित कर दी। इसमें आपने मुनिराजों की बाह्य चारित्र-साधना के समस्त भेदों का एवं अन्तरंग चारित्र-साधना का गहरायी से, अत्यधिक प्रभावक व आत्मप्रेरक रूप में वर्णन किया है। जिसमें, उनके बाह्य भेदरूप चारित्र का अहिंसा आदि पाँच महाव्रत, ईर्या आदि पाँच समिति, स्पर्शनविजय आदि पाँच इन्द्रिय-विजय, सामायिक आदि छः आवश्यक, एक बार दिन में आहार लेना आदि सात शेष गुण तथा मनोगुप्ति आदि तीन गुप्तियाँ तथा अनशन आदि छः प्रकार के बहिरंग तप एवं प्रायश्चित्त आदि छः प्रकार के बहिरंग तप तथा धर्म के उत्तमक्षमा आदि दश प्रकार तथा संसार की अनित्यता आदि का बारह प्रकार से चिन्तवन (अनुप्रेक्षा) का संक्षिप्त रूप में वर्णन किया है। तथा अन्तरंग (अभेद/ स्वरूपाचरण) चारित्र-साधना के अन्तर्गत उनके शरीर, कर्म व रागादि की अशुद्धि से रहित तथा गुण-गुणी, ज्ञाता-ज्ञान-ज्ञेय के भेदों से भी भिन्न शाश्वत ज्ञान-दर्शन-चेतनामयी अनन्त स्वाभाविक गुणों के भण्डार अखण्ड-अमल निज आत्मा में ध्यानस्थ हो जाने का मार्मिक रीति से मांगलिक वर्णन किया।[15]

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

निम्न पद में भी गुरुओं के प्रति आपकी पवित्र भावना प्रगट दीखती है–

> **कबधौं मिलैं मोहि श्रीगुरु मुनिवर, करिहैं भवोदधि पारा हो॥ टेक॥**
> **भोग-उदास जोग जिन लीनो, छाँड़ि परिग्रह भारा हो।**
> **'दौलत' ऐसे जैन जतिन को, नित प्रति धोक हमारा हो॥**[16]

उपर्युक्त पद में कवि ऐसे गुरुओं (जैन मुनिवरों) की प्राप्ति की भावना भा रहा है, जो संसार-शरीर-भोगों से उदास होकर, परिग्रह के भार से रहित हैं। तथा ऐसे ही श्रीगुरु संसार-सागर से पार होने में हमें सहायक हो सकते हैं। अतः ऐसे गुरुओं की हम सदैव वंदना करते हैं।

सारांश-

इस प्रकार हमने देखा कि, कविवर दौलतराम रीतिकाल और आधुनिक काल की संधि बेला में हुए, परन्तु लिखा उन्होंने भक्ति साहित्य की परंपरा में, वहाँ भी वे परमात्मा के निर्गुण और सगुण --दोनों रूपों के प्रति श्रद्धा-भक्ति समर्पण करते दिखाई देते हैं। आपका साहित्य 'सा विद्या या विमुक्तये' का निर्वहन करता हुआ, संपूर्ण जगत को संसार-सागर से पार होने की आत्मोन्मुखी सम्यक् राह दिखाता है।

संदर्भ सूची-

1. हिंदी साहित्य का आदिकाल, बिहार राष्ट्रभाषा परिषद, पटना, 1980, पृष्ठ 11
2. कविवर बुधजन : व्यक्तित्व कृतित्व, महावीर ग्रंथ अकादमी, जयपुर, 1986, पृष्ठ 15
3. वही, वही, पृष्ठ 3
4. हिंदी साहित्य का इतिहास, डॉ. नगेंद्र, मयूर पेपर बैक्स, नोएडा, 1997, पृष्ठ 88
5. श्री रत्नकरण्ड श्रावकाचार, आचार्य समंतभद्र, श्री वीतराग विज्ञान स्वाध्याय मंदिर ट्रस्ट, अजमेर, 2002, श्लोक 119 की पंडित सदासुखदासजी कृत टीका
6. सर्वार्थसिद्धि, अध्याय 6, सूत्र 24, पृष्ठ 239
7. समयसार, पारस मूलचंद चतर चैरिटेबल ट्रस्ट, कोटा, 2010, गाथा 173 से 176
8. वृहत्स्वयंभूस्तोत्र, छंद 57
9. मोक्षमार्गप्रकाशक, पं. टोडरमल, टोडरमल स्मारक ट्रस्ट, जयपुर, 2002, पृष्ठ 2
10. दौलत-विलास, पंडित दौलतराम, भारतीय ज्ञानपीठ, नई दिल्ली, 2000, पद 18
11. वही, वही, पद 50, पृष्ठ 76 से 77
12. वही, वही, पद 58, पृष्ठ 84
13. मोक्षमार्गप्रकाशक, पंडित टोडरमल, टोडरमल स्मारक ट्रस्ट, जयपुर, 2002, पृष्ठ 14
14. दौलत-विलास, पंडित दौलतराम, भारतीय ज्ञानपीठ, नई दिल्ली, 2000, पद 58
15. छहढाला, पंडित टोडरमल स्मारक ट्रस्ट, 2001, छंद 1 से 11, पृष्ठ 151 से 171
16. दौलत-विलास, पं. दौलतराम, भारतीय ज्ञानपीठ, नई दिल्ली, 2000, पद 66 ❖❖

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

अपभ्रंश-प्राकृत-जैनग्रन्थ वित्तसार में भारतीय दण्ड संहिता

—डॉ. शान्तिसागर शिरहट्टि*

भूमिका— वैश्विक वाङ्मय में जैन-प्राकृत-वाङ्मय की परम्परा विशेष समृद्ध रही है। यह वैश्विक वाङ्मय का मूलस्रोत भी रही है। अतएव यह भारतवर्ष की विरासत है। जैन-प्राकृत-वाङ्मय की परम्परा में अपभ्रंश-प्राकृत-जैन-वाङ्मय की परम्परा भी वैभवसम्पन्न रही है, जिसका काल ईसा 6वीं से 16वीं सदी तक मना गया है। अपभ्रंश-प्राकृत-वाङ्मय की परम्परा आधुनिक भारतीय भाषाओं की जननी है। इस परम्परा में चउमुह (ईसा 6वीं), द्रोण (7वीं), स्वयंभू (7-8वीं), पुष्पदन्त (ईसा 9-10), लक्ष्मीचन्द (ईसा 14वीं) आदि अनेक महाकवि हुए हैं, उनमें एक शुभनाम है— रइधू। इसका अर्थ होता है कि विद्यारूपी देवी का धारक। इनको 30 ग्रंथों की रचना करने का श्रेय प्राप्त है। उन ग्रंथों में प्रस्तुत वित्तसार भी एक है।

वित्तसार दिगम्बर प्राकृत जैनागम का सार ग्रन्थ है। इसकी मूलभाषा यद्यपि अपभ्रंश प्राकृत है, तथापि इसमें शौरसेनी प्राकृत के शब्द भी पाए जाते हैं। अध्याय-1 की 9, 11, 14वीं गाथाओं में वित्तसार को चारित्रसार भी कहा गया है। वित्त, वित्ति, संस्कृत का वृत्ति शब्द का प्राकृतरूप है। वित्त अर्थात् संयम, अनुष्ठान, चारित्र, आचार, आचरण है। सार अर्थात् परमार्थ, तत्त्व, सत्त्व, आत्मतत्त्व, रत्नत्रय है। सदाचार, धार्मिक अनुष्ठान, रत्नत्रय का परिपालन करने को वित्तसार कहा जाता है। वित्तसार ग्रन्थ में गुणस्थान, आचारधर्म (श्रावकाचार व श्रमणाचार), दशधर्म, अनुप्रेक्षा, कर्मसिद्धान्त, भूगोल-खगोल विषयों का प्रतिपादन किया है। प्राकृत-भावसंग्रह ग्रन्थ वित्तसार का मूलस्रोत रहा है। जो कोई गृहस्थ प्रमादवश सामाजिक, राजनैतिक, आर्थिक, धार्मिक क्षेत्रों में दोषपूर्ण आचरण करते हैं तो उसे प्राकृत-जैन श्रावकाचार में अतिचार कहकर, उनका निषेध किया गया है, जिसे भारतवर्ष

---

*डॉ. शान्तिसागर शिरहट्टि, अतिथि व्याख्याता, जैनशास्त्र एवं प्राकृत अध्ययन विभाग, मैसूरु विश्वविद्यालय, मैसूरु, कर्नाटक, मोबाईल: 9980703105. ई-मेल : drshantisagarshastry@gmail.com

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

के कानून में दण्ड संहिता कहा है। अतिचारों को अपभ्रंश-प्राकृत जैनग्रन्थ वसुनन्दि आदि श्रावकाचार ग्रन्थों में भी प्रतिपादन किया है, पर वित्तसार में जो प्रतिपादन किया गया है, वह विशेष है। इसी को प्रस्तुत शोधालेख में भारतीय दण्ड संहिता के 511 अपराध कहकर संक्षिप्त विवरण दिया है–

अहिंसाणुव्रत के अतिचार

1. बन्ध – नौकरों को एवं पशु-पक्षियों को बाँध कर रखना।
2. वध – नौकरों को व पशु-पक्षियों को मारना, पीड़ित करना।
3. छेदन – पशुओं के नाक व कानों को छेदना।
4. अतिभारारोपण – नौकरों के व पशुओं के ऊपर अधिक भार लादना।
5. अन्न-पान-निरोध – नौकर व पशु-पक्षियों को समयानुसार अन्न-पान न देना।

सत्याणुव्रत के अतिचार

1. मिथ्योपदेश – झूठ बोलना, झूठ बोलने का उपदेश देना।
2. रहोभ्याख्यान – गुप्त विषयों को व्यक्त करना, प्रचार करना।
3. कूटलेखक्रिया – नकली पत्र, दस्तावेज लिखना या लिखवाना।
4. न्यासापहार – चुगली करना, कुतन्त्र-षड्यन्त्र रचना।
5. साकारमन्त्रभेद (पैशून्य) – दूसरों की सम्पत्ति को स्वाधीन कर लेना।

अचौर्याणुव्रत के अतिचार

1. स्तेन प्रयोग – चोरी सिखाना, चोरी के उपाय बताना।
2. आहृत आदान – चोरी की वस्तुओं का लेन-देन करना।
3. विरुद्धराज्यातिक्रमण – चोरी का व्यापार करना, आयकर नहीं भरना।
4. हीनाधिक मानोन्मान – ज्यादा-कम नाप-तोल करना।
5. प्रतिरूपक व्यवहार – नकली एवं असली वस्तुओं को मिश्रण करना।

ब्रह्मचर्याणुव्रत के अतिचार

1. परविवाहकरण – दूसरों के पुत्र एवं पुत्रियों का विवाह करवाना।
2. परिगृहीत इत्वरिकागमन – पतिवाली व्यभिचारिणी स्त्री से सम्पर्क रखना।
3. अपरिगृहीत इत्वारिकागमन – बिना पतिवाली व्यभिचारिणी स्त्री से सम्पर्क रखना।
4. अनंगक्रीडा – कामसेवन के अंग के अतिरिक्त अन्य अंगों से कामसेवन करना।
5. कामतीव्राभिनिवेश – काम सेवन करने की अधिक इच्छा करना।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

अन्य अतिचार–

1. मनोविकार वर्धक इष्ट व गरिष्ठ भोजन, रसादि का सेवन करना।
2. तेल आदि के द्वारा शरीर का मालिश करना, सुगन्धित वस्तु-पुष्प-मालिकाओं का सेवन करना।
3. महिलाओं के गीत सुनना, नृत्य देखना, कटाक्ष करने वाली महिलाओं से सम्पर्क रखना।
4. महिलाओं के शयन-क्रीड़ागृहों को एवं चित्रशालाओं को ढूँढना।
5. शरीर का श्रृंगार-अलंकार करना।
6. गृहस्थाश्रम में किए गए भोगों के अनुभवों का स्मरण करना।

परिग्रह-परिमाणाणुव्रत के अतिचार

1. क्षेत्रवास्तु-प्रमाणातिक्रम – अपने घर की व क्षेत्र की सीमा का उल्लंघन करना।
2. हिरण्यसुवर्ण-प्रमाणातिक्रम – आवश्यकता से अधिक चाँदी, सोना आदि वस्तु रखना।
3. धनधान्य-प्रमाणातिक्रम – आवश्यकता से अधिक धन, धान्य आदि का संग्रह करना।
4. दासीदास-प्रमाणातिक्रम – आवश्यकता से अधिक सेवक व सेविका को रखना।
5. कुप्य-प्रमाणातिक्रम – आवश्यकता से अधिक कपड़े, बर्तन आदि का संग्रह करना।

अनर्थदण्डत्याग व्रत के अतिचार

1. कन्दर्प – कामवासना से हास्यपूर्वक अश्लील वचन कहना।
2. कौत्कुच्य – शरीर द्वारा कुचेष्टा करते हुए अशिष्ट वचन कहना।
3. मौखर्य – दुष्टता पूर्वक आवश्यकता से अधिक बोलना।
4. असमीक्षाधिकरण – प्रयोजन के बिना ही प्रवृत्ति करना।
5. भोगोपभोग-अनर्थक्यानि – भोग-उपभोग के पदार्थों का आवश्यकता से अधिक संग्रह करना।

अन्य अतिचार–

पापोपदेश (पाप करने की प्रेरणा), हिंसादान (हिंसा के साधनों का आदान-प्रदान), दुःश्रुति (विकार वर्धक कथा पढना, सुनना, सुनाना), अपध्यान (पर का बन्धन, वध करने का विचार करना, स्त्रीचिन्तन), प्रमादचर्या (प्रयोजन के बिना भूमि, जल, अग्नि, वाय, वनस्पति जीवों को तोड़ना, काटना)।

इसप्रकार के दोषाचरण श्रावकाचार के अतिचार तथा भारतीय दण्ड-नीति के अपराध के रूप में समान हैं।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

प्राकृत के श्रावकाचार ग्रन्थों ने श्रावकों के 12 व्रतों के परिपालन को सामाजिक, धार्मिक, आर्थिक एवं राजनैतिक हित में कहा है। पर, श्रावक आचरण में दोष करते हैं, तो उन्हें अतिचार कहा है। उन्हें भारतीय दण्ड संहिता (Indian Penal Code) में अपराध कहा गया है। ये भारतीय दण्ड-नीति मूलतः श्रावक के अतिचार ही हैं। बाद में भारतीय दण्ड-नीति के रूप में लागू किया गया है। गृहस्थ के आचरण में या व्रतों में उत्पन्न हो सकते हैं। पर मुनि-साधु के दोष उत्पन्न होना बहुत दुर्लभ है। यद्यपि श्रमणाचार ग्रन्थों में जैनमुनि को दोष, अपराध करने का सर्वथा, सर्वत्र, सर्वदा निषेध किया गया है, तथापि यदा-कदा दोष उत्पन्न हों तो उन्हें भी प्रायश्चित्त कहा गया है। प्रस्तुत शोधालेख में गृहस्थों के ही आचारदोषों को प्रस्तुत किया गया है। ग्रन्थकार रइधू ने IPC संख्या 1 से 511 तक के अपराधों को श्रावक के आचरण से सम्बन्धित अतिचार कहा है। उनका शोधाध्ययन निम्नानुसार है–

IPC– 1 से 5[1] में भूमिका के रूप में न्याय से जीवन-यापन करने का सामान्य-कथन है। इसी को वित्तसार ग्रन्थ में जूआ, शिकार, चोरी, मद्यसेवन, मांसभक्षण, परस्त्रीसेवन, वेश्यागमन– इन 07 व्यसनों को त्याग करने के लिए कहा है।

IPC– 6 से 52[2] में हिंसा, चोरी, अत्याचार, बलत्कार आदि दुष्कृत्यों को त्याग करने का आदेश है। इसी को वित्तसार ग्रन्थ में पाँचों पापों के त्याग करने के लिए कहा है अर्थात् 05 अणुव्रतों के अतिचारों को छोड़ने की बात कही है।

IPC– 53 से 75[3] में दण्ड व सजा में प्रायश्चित्त कर लेने की बात है। इससे दण्ड व सजा कम हो जाते हैं। इसी को वित्तसार में 05 पापों का त्याग तथा अपने गुरु के समक्ष अपने दोष कहकर प्रायश्चित्त कर लेने की बात है।

IPC– 76 से 106[4] में पीड़ित करना, गाली देना, आरोप लगाना आदि सामान्य अपराध हैं। इसी को वित्तसार ग्रन्थ में (अ) व्यक्ति क्रोध, अहंकार, लोभादि के वशीभूत होकर अपराध करता है। उन्हें त्यागने की बात है। (आ) व्यक्ति जाति, कुल, बल आदि 8 अहंकारों के कारण स्वेच्छाचार, दुराचार आदि दुष्प्रवृत्तियाँ करता है, जिन्हें त्यागने की शिक्षा दी है।

IPC– 107 से 120[5] में कहा है कि बाँधना, छेदना, अन्न-पान न देना आदि विशेष अपराध स्वयं करना, करवाना, अनुमोदना समान अपराध हैं। इसी को वित्तसार ग्रन्थ में अणुव्रतों के अतिचार कहकर, उन्हें त्याग करने का उपदेश है।

IPC– 121 से 130[6] में कही गई भारत देश तथा प्रान्तों के सरकार के

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

अधिनियम व विधिनियमों के विरुद्ध अतिक्रमण आदि कार्य रूप विशेष अपराध करना तथा IPC– 131 से 140 में भारतीय सेना में रहकर देशद्रोह का विशेष अपराध करना तथा IPC– 172 से 190 में देश एवं राज्यों के नौकर प्रशासन को अपमानित करने का विशेष अपराध करना– इन्हें छोड़ने की बात है। इसी को वित्तसार ग्रन्थ में अचौर्यअणुव्रत के अतिचारों में विरुद्धराज्यातिक्रमण कहा है।

IPC– 141 से 160[7] में सार्वजनिक व सामाजिक शान्ति को भंग करना अपराध है। इसी को वित्तसार ग्रन्थ में अहिंसा अणुव्रत के मिथ्योपदेश, वध, बन्धन आदि अतिचार बताए हैं।

IPC– 161 से 171[8] में राज्य सरकार के नौकरों के द्वारा होने वाले अपराध एवं उनसे सम्बन्धित अन्य अपराध भी अपराध कहा है। इसी को वित्तसार ग्रन्थ में (अ) सत्य अणुव्रत के तथा (आ) अचौर्य अणुव्रत के अतिचार कहे गए हैं।

IPC– 191 से 229[9] में (अ) झूठी साक्ष्य को प्रस्तुत करना या कहना अपराध है। तथा जनता को अन्याय करना अपराध माना जाएगा। इसी को वित्तसार में (अ) सत्यअणुव्रत के तथा (आ) अचौर्य अणुव्रत के अतिचार कहा है।

IPC– 230 से 263[10] में (अ) मोहर के सम्बन्ध में, नकली मोहर बनाना, बनवाना अपराध है। इसीको वित्तसार में अचौर्य अणुव्रत का प्रतिरूप्यक अतिचार कहा है। साथ में IPC– 230 से 263 में ही (आ) सरकारी स्टाम्प के सम्बन्ध में, नकलीस्टाम्पों का मुद्रण करना अपराध है। यही वित्तसार में (आ) अचौर्य अणुव्रत का विरुद्धराज्यातिक्रम अतिचार है।

IPC– 264 से 267[11] में ज्यादा-कम नापना या तोलना अपराध है। इसी को वित्तसार ग्रन्थ में अचौर्य अणुव्रत का हीनाधिक-मानोन्मान अतिचार कहा है।

IPC– 268 से 294[12] में (अ) आम जनता की हित आसक्ति को ध्यान में रखना, सुरक्षा करना आदि सदाचार व शिष्टाचार के विरुद्ध कार्यों में संलग्न होकर किए जाने वाले कार्य अपराध हैं। इसी को वित्तसार ग्रन्थ में अहिंसा अणुव्रत के अतिचार कहे हैं। IPC– 295 से 298 में (आ) जनहित के विरुद्ध में धर्म के नाम पर किए जाने वाले सभी कार्य भी अपराध हैं। इसी को वित्तसार ग्रन्थ में सत्य अणुव्रत के अतिचार कहे हैं।

IPC– 299 से 377[13] में व्यक्ति के शरीर के साथ खिलवाड़ करने जैसे अनैतिक एवं अनुचित कार्य भी अपराध हैं। इसी को वित्तसार ग्रन्थ में अहिंसा अणुव्रत के अतिचार कहा है।

IPC– 378 से 462[14] में संपत्ति के नियमों के विरुद्ध अन्याय से सम्पत्ति का

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri
सम्पादन, संग्रह, लूटना, खींचना आदि दुराचार भी अपराध हैं। इन्हें वित्तसार में (अ) अचौर्य अणुव्रत के तथा (आ) परिग्रह-परिमाणअणुव्रत के अतिचार कहा है।

IPC— 463 से 489[15] में दस्तावेज, आलेख, पत्र, लेख्य, कागज, लिखित प्रमाण तथा व्यापार से सम्बन्धित झूठे दस्तावेज, पत्र, लिखितप्रमाण लिखना या लिखवाना अपराध है। इसी को वित्तसार में (अ) सत्य अणुव्रत के कूटलेखन तथा (आ) सम्पत्ति से सम्बन्धित झूठे दस्तावेज लिखना या लिखवाना अचौर्य अणुव्रत के अतिचार कहा गया है।

IPC— 490 से 492[16] में अफसर के द्वारा कर्त्तव्यलोप होना, कर्त्तव्य करने वाले को रोकना, रिश्वत लेना या देना, दिलाना आदि कार्य भी अपराध हैं। इन्हीं को वित्तसार ग्रन्थ में अहिंसा अणुव्रत के अतिचार कहा है।

IPC— 493 से 498[17] में विवाह के नियमों के विरुद्ध बाल्यविवाह, झूठ बोलकर विवाह करवाना, दिखाई गई वधू या वर के स्थान पर अन्य वधू या वर को प्रस्तुत करना, विवाह करूँगा बोलकर धोखा देना आदि भी अपराध हैं। इन्हीं को वित्तसार ग्रन्थ में ब्रह्मचर्य अणुव्रत के पर-कन्या-विवाहकरण अतिचार कहा गया है।

IPC— 499 से 502[18] में मानहानि के निमित्त सभी कार्य अपराध हैं। इन्हीं को वित्तसार ग्रन्थ में सत्य अणुव्रत में रहोभ्याख्यान अतिचार कहा गया है।

IPC— 503 से 510[19] में किसी भी प्रकार से धमकाना, डराना, अपमानित करना तथा विविध प्रकार की हिंसा—कष्ट देना आदि कार्य अपराध हैं। इसी को वित्तसार ग्रन्थ में सत्य अणुव्रत के सभी अतिचार कहा है।

IPC— 511[20] में अपराध करने का प्रयत्न करना भी अपराध है। इसको वित्तसार में अणुव्रत के अतिचार कहा है।

इस प्रकार वित्तसार ग्रन्थ में गृहस्थ के अणुव्रतों में प्रमाद से जो अनाचार व अत्याचार रूप दोष हो जाते हैं, उन्हें अतिचार कहा है। तथा उन्हीं अतिचारों को भारतीय दण्ड-नीति में अपराध कहा है। इस शोधालेख में सभी अतिचारों का तथा भारतीय दण्ड-नीति के 511 अपराधों का समानता का शोधाध्ययन कर प्रस्तुत किया गया है। वैश्विक जैन-संस्कृत-साहित्य में सूत्रबद्ध मोक्षशास्त्रवत् स्थान- मान जैन-अपभ्रंश-प्राकृत-साहित्य में गाथाबद्ध वित्तसार को प्राप्त होता है।

सन्दर्भ-

1. अ) वित्तसार (प्राकृत–हिन्दी), लेखक– महाकवि रइधू, सम्पादक– प्रो. डॉ. राजाराम जैन, नोएडा, नई दिल्ली, देशभूषण धर्मार्थ ट्रस्ट, नई दिल्ली, 2010, श्रावक के दोष, अध्याय 2, गाथा 63 से 171, पृष्ठ 73 से 75

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

आ) भारत दण्ड संहिते (कन्नड़), लेखक– एन. एस. संगोळ्ळि, विद्यानिधि प्रकाशन, गदग, कर्नाटक, 2015

2. वही, अध्याय 2, गाथा 173 से 222, पृष्ठ 75 से 85
3. वही, अ) अध्याय 2, गाथा 189 तथा गृहस्थ के प्रायश्चित्त, अध्याय 2, गाथा 276, पृष्ठ 97
   आ) मुनि के प्रायश्चित्त, अध्याय 2, गाथा 397, पृष्ठ 124 तथा अध्याय 5, गाथा 651, पृष्ठ 183
4. वही, अ) अध्याय 2, गाथा 189, पृष्ठ 78 आ) अध्याय 2, गाथा 35 से 49, पृष्ठ 43 से 46
5. वही, अध्याय 2, गाथा 173 से 222, पृष्ठ 75-58
6. वही, अध्याय 2, गाथा 203 से 206, पृष्ठ 81 से 82
7. वही, अध्याय 2, गाथा 173 से 194, पृष्ठ 75-80
8. वही, अ) अध्याय 2, गाथा 195 से 202, पृष्ठ 80-81
   आ) अध्याय 2, गाथा 203 से 206, पृष्ठ 81-82।
9. वही, अ) अध्याय 2, गाथा 195 से 202, पृष्ठ 80-81
   आ) अध्याय 2, गाथा 203 से 206, पृष्ठ 81-82
10. वही, अ-आ) अध्याय 2, गाथा 203 से 206, पृष्ठ 81-82
11. वही, अध्याय 2, गाथा 203 से 206, पृष्ठ 81-82
12. वही, अ) अध्याय 2, गाथा 173 से 194, पृष्ठ 75-80
    आ) अध्याय 2, गाथा 195 से 202, पृष्ठ 80-81
13. वही, अध्याय 2, गाथा 173 से 194, पृष्ठ 75-80
14. वही, अ) अध्याय 2, गाथा 203 से 206, पृष्ठ 81-82
    आ) अध्याय 2, गाथा 216 से 221, पृष्ठ 84-85।
15. वही, अ) अध्याय 2, गाथा 195 से 202, पृष्ठ 80-85
    आ) अध्याय 2, गाथा 203 से 206, पृष्ठ 81-82
16. वही, अध्याय 2, गाथा 195 से 202, पृष्ठ 80-81
17. वही, अध्याय 2, गाथा 207 से 215, पृष्ठ 82-84

18-19. वही, अध्याय 2, गाथा 195 से 202, पृष्ठ 80-81

20. वही, अध्याय 2, गाथा 173 से 221, पृष्ठ 75-80

❖❖

भवितव्यता अलंघ्य है

न हि सिद्धवाक्यान्युत्क्रम्य गच्छति विधिः सुपरीक्षितानि।

भवितव्यता, सिद्धों के सुपरीक्षित वचनों का उल्लंघन नहीं करती।

—महाकवि भास, स्वप्नवासवदत्ता, 1/11

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

विविध प्राकृत भाषाओं का वैशिष्ट्य

—डॉ. इन्दु जैन*

अभी कुछ दिन पूर्व भारत सरकार ने प्राकृत भाषा को शास्त्रीय भाषा घोषित किया है। हालांकि प्राकृत प्राचीन काल से ही शास्त्रीय भाषा रही है, सिर्फ घोषित इस वर्ष हुई है। शास्त्रीय भाषा में सम्मिलित होने से प्राकृत भाषा के संरक्षण-संवर्धन में किए जा रहे प्रयासों में अनेक नए द्वार खुलेंगे और भविष्य में प्राकृत भाषा में अधिक अध्ययन-अध्यापन की सम्भावनाएँ बढ़ेंगी, इसलिए इस लेख के माध्यम से प्राकृत भाषा एवं उसके विविध रूपों के वैशिष्ट्य को समझना आवश्यक है। यहाँ इसी विषयक विवेचन प्रस्तुत है।

भाषा क्या है ?

विचारों एवं भावों के संप्रेषण का प्रमुख साधन है– भाषा। भाषा के बिना विचारों एवं भावों का आदान-प्रदान सम्भव नहीं है। मनुष्य की भाषा मनुष्य के लिए बोधगम्य होती है, जबकि अन्य प्राणियों की ध्वन्यात्मक भाषा मनुष्य के लिए भले ही बोधगम्य न हो, किन्तु समान-भाषा-भाषी एवं सजातीय वर्ग के प्राणियों के लिए अवश्य ही बोधगम्य होती है। कोई भी मनुष्य या प्राणी अपने मन में उत्पन्न विचारों को अभिव्यक्त करने के लिए भाषा का उपयोग करता है। भाषा का इतिहास उतना ही पुराना है जितना मनुष्य का।

सुप्रसिद्ध वैय्याकरण पाणिनि ने कहा है कि– आत्मा बुद्धि के द्वारा अर्थ ग्रहण करके मन को बोलने के लिए प्रेरित करती है। मन शरीर की अग्नि पर जोर डालता है, जिससे वह अग्निरूपी शक्ति वायु को प्रेरित करती है। इसी प्रेरणा से शब्द (वाणी) का जन्म होता है।

सम्पूर्ण विश्व में अनेकानेक भाषाएं हैं। भारत में भी हजारों भाषाएँ और बोलियाँ हैं। इनमें संस्कृत, प्राकृत, अपभ्रंश, तमिल, कन्नड़, मराठी, उड़िया, गुजराती आदि

---

*तारा अपार्टमेंट, F-171, फ्लैट नं. 411, तीसरी मंजिल, खानपुर एक्सटेंशन, नई दिल्ली-110062 मोबाईल : 9654403207

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

अनेक प्राचीन भारतीय भाषाओं का अपना विशेष महत्त्व है। ये भाषाएँ भारतीय संस्कृति और साहित्य की आत्मा हैं। इन भाषाओं में प्राकृत भाषा अतिप्राचीन काल से ही सर्वव्यापक महत्त्वपूर्ण भाषा रही है। यह भाषा अनेक क्षेत्रीय एवं प्रादेशिक भाषाओं का समूह है. अतः यहाँ उन सभी प्रमुख प्राकृत भाषाओं के वैशिष्ट्य को प्रतिपादित किया जा रहा है—

प्राकृत भाषा क्या है ?

प्राचीन भारतीय भाषाओं में प्राकृत भाषा अनेक शताब्दियों तक भारतीय जनमानस और लोकजीवन की प्रमुख सार्वभौमिक भाषा रही है। सम्पूर्ण भारतीय संस्कृति, साहित्य, इतिहास, परम्पराएँ और सम्पूर्ण जन-मन-गण इससे प्रभावित एवं ओतप्रोत रहा है। यही कारण है कि प्राकृत और इसी से विकसित अपभ्रंश भाषा को अनेक प्रमुख भारतीय भाषाओं की जननी होने का गौरव प्राप्त है।

ईसा की आठवीं शताब्दी के महाकवि वाक्पतिराज ने अपने गउडवहो नामक प्राकृत महाकाव्य में इसी मत को इन स्पष्ट शब्दों में व्यक्त किया है—

सयलाओ इमं वाया विसंति एत्तो य णेंति वायाओ।
एंति समुद्दं चिय णेंति सायराओ च्चिय जलाइं॥93॥

अर्थात् इसी प्राकृत भाषा में सब भाषाएँ प्रवेश करती हैं और इस प्राकृत भाषा से ही सब भाषाएँ निर्गत हुई हैं। जल समुद्र (आकर) में ही प्रवेश करता है और समुद्र से ही (वाष्प रूप से) बाहर होता है।

महाकवि वाक्पतिराज के इस पद्य का मर्म यही है कि प्राकृत भाषा की उत्पत्ति अन्य किसी भाषा से नहीं हुई है, बल्कि अनेक भाषाएँ प्राकृत से ही उत्पन्न हुई हैं। इस तरह इन्होंने प्राकृत को जनभाषा बताया है तथा इसे ही अनेक भाषाओं की जननी माना है।

देश की प्रायः सभी भाषाएँ और उनका साहित्य अनेक रूपों में प्राकृत भाषा से प्रभावित है। यहाँ तक कि वेदों की भाषा में प्राकृत भाषा के विविध संकेत और तत्त्व उपस्थित हैं। भगवान् महावीर और बुद्ध ने भी इसी जनभाषा को अपने उपदेशों और धर्मप्रचार का माध्यम बनाया। यही कारण है कि ईसा पूर्व छठीं शताब्दी से लेकर वर्तमान काल तक प्राकृत भाषा में निरन्तर धर्म-दर्शन, अलंकारशास्त्र, समाजविज्ञान, इतिहास-कला-संस्कृति, गणित, ज्योतिष, भूगोल-खगोल, वास्तुशास्त्र, मूर्ति-विज्ञान एवं जीवन-विज्ञान आदि अनेक विधाओं से सम्बन्धित साहित्य की सर्जना होती चली आ रही है। यह क्रम आज भी जारी है।

वस्तुतः 'प्राकृत' वह जनभाषा है, जिसका विकास जनसामान्य की बोलियों

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri
से हुआ है। प्राचीन काल के भारतीय भाषातत्त्वज्ञों में भी यह मत प्रबल रूप से प्रचलित था कि प्राकृत भाषा लौकिक संस्कृत से कथमपि उत्पन्न नहीं हुई है। इसका एक प्रमाण यह भी है कि प्राकृत के अनेक शब्द और प्रत्ययों का लौकिक संस्कृत की अपेक्षा छांदस् (वैदिक) भाषा के साथ अधिक समानता देखने में आती है क्योंकि वैदिक साहित्य में भी प्राकृत के अनुरूप अनेक शब्द और प्रत्ययों के प्रयोग विद्यमान हैं। इस तरह हम यह कह सकते हैं कि प्राकृत की उत्पत्ति वैदिक अथवा लौकिक संस्कृत से नहीं, किन्तु वैदिक संस्कृत की उत्पत्ति भी प्रथम स्तर की प्रादेशिक प्राकृत भाषा से हुई है।

रुद्रट कृत काव्यालंकार के टीकाकार नमिसाधु का कहना है कि– संसार के समस्त लोगों का व्याकरणादि से रचित सहज वचन व्यापार प्रकृति है, उससे उत्पन्न या वही प्राकृत है। आचार्य हेमचंद्र ने अपने सिद्धहेमशब्दानुशासन नामक संस्कृत-प्राकृत-व्याकरण ग्रंथ के अन्तिम अध्याय में जब प्राकृत व्याकरण का प्रारंभ किया, तब उन्होंने पहला सूत्र लिखा– 'अथ प्राकृतम्'। आगे लिखा– 'प्रकृतिः संस्कृतम् तत्र भवं तत् आगतं वा प्राकृतम्' अर्थात् प्रकृति संस्कृत है और वहाँ से उत्पन्न अथवा वहाँ से आई हुई भाषा प्राकृत है। यद्यपि हेमचन्द्र के इस कथन का कुछ विद्वानों ने विपरीत अर्थ ही समझा है। क्योंकि आचार्य हेमचंद्र के कथन का तात्पर्य यह नहीं था कि संस्कृत से प्राकृत उत्पन्न हुई, अपितु यहाँ उनके कथन का सीधा तात्पर्य यह है कि अभी तक हमने अपने इस सिद्धहेमशब्दानुशासन नामक व्याकरण ग्रन्थ के सात अध्यायों में संस्कृत-व्याकरण का विवेचन (कथन) किया, इसके बाद अब यहाँ से हम इस अष्टम अध्याय में संस्कृत शब्दों आदि के आधार पर प्राकृत व्याकरण की विवेचना करेंगे, जिन्हें हम पिछले सात अध्यायों में कर चुके हैं।

यहाँ पर इस बात का उल्लेख करना आवश्यक है कि संस्कृत के अनेक विद्वानों ने और प्राकृत के प्रायः समस्त वैयाकरणों ने 'तत्' शब्द से संस्कृत को लेकर 'तद्भव' शब्द का जो व्यवहार 'संस्कृत भव' अर्थ में किया है, वह किसी तरह संगत नहीं हो सकता। वहाँ 'तत्' शब्द से संस्कृत के स्थान में वैदिक काल के प्राकृत का ग्रहण कर 'तद्भव' शब्द का प्रयोग 'वैदिक काल के प्राकृत से जो शब्द संस्कृत में लिया गया है, उससे उत्पन्न' इसी अर्थ में करना चाहिए।

पाइअसद्दमहण्णवो के उपोद्घात (पृ. 25-26) में कहा है कि– "ईसापूर्व 1600 के लगभग जो संस्कृत शब्द और प्राकृत तद्भव शब्द इन दोनों का साधारण मूल वैदिक काल का प्राकृत अर्थात् पूर्वोक्त प्राथमिक प्राकृत या प्रथम स्तर का प्राकृत है। इससे जहाँ पर 'तद्भव' शब्द का सैद्धान्तिक अर्थ 'संस्कृतभव' नहीं, किन्तु

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

'वैदिक काल के प्राकृत से उत्पन्न'– यही समझना चाहिए।"

वैदिककाल के पूर्व जो जनभाषा प्रचलित थी, उससे वेदों की भाषा 'छान्दस्' का विकास हुआ तथा कालान्तर में 'छान्दस्' से ही लौकिक संस्कृत विकसित हुई है। छान्दस् को ही प्राचीन भारतीय आर्य-भाषा कहा गया है। एक ही मूल स्रोत से विकसित छान्दस् और लौकिक संस्कृत ये दोनों भाषाएँ साहित्यिक रूप धारण कर स्थिर हो गयी, किन्तु भाषा का प्रवाह नदी के जल की भाँति निरन्तर होता रहता है।

इसी तरह छान्दस् के पहले की जो जनभाषा प्रवहमान रही, उससे प्राकृत भाषाओं का विकास हुआ। इस प्राकृत के अनेक रूप शब्द छान्दस् (ऋग्वेद और अथर्ववेद) में आज भी सुरक्षित हैं। इसलिए यह माना जा सकता है कि प्राकृत और संस्कृत दोनों का मूलस्रोत तत्कालीन जनभाषा तथा छान्दस् है।

जहाँ एक ओर लौकिक संस्कृत नियमबद्ध होकर स्थिर हो गयी, वहीं दूसरी ओर प्राकृत विभिन्न क्षेत्रीय जनभाषाओं के सहयोग से विकसित हुई और पाली, अर्द्धमागधी, शौरसेनी, महाराष्ट्री, मागधी, पैशाची आदि अनेक भौगोलिक नामों से साहित्यिक भाषाएँ बन गईं। निश्चित ही इन भाषाओं से और भी अनेकानेक प्रचलित भाषाओं/बोलियों का विकास सम्भव हुआ है। इसीलिए इन सबका अध्ययन-अनुसंधान अति आवश्यक है।

विभिन्न प्राकृत भाषाएँ और उनका स्वरूप

विभिन्न प्राकृतों को मध्यकालीन भारतीय आर्यभाषा कहा जाता है, यहाँ इनके प्रमुख भेदों में– शिलालेखी, पालि, मागधी, अर्द्धमागधी, शौरसेनी, महाराष्ट्री, पैशाची– इन सबका संक्षिप्त परिचय प्रस्तुत है–

1. शिलालेखी प्राकृत– इसका समय ईसा पूर्व 300 से 400 ई. अर्थात् 700 वर्षों का लम्बा समय है। इस लम्बे कालखण्ड के समस्त शिलालेखों की संख्या लगभग 2000 है। इनमें अशोक के शताधिक शिलालेख, उदयगिरि-खण्डगिरि के हाथी गुम्फा आदि शिलालेख एवं पश्चिमी भारत के आन्ध्र राजाओं के शिलालेख साहित्यिक एवं भाषा की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण है।

प्राकृत के विकसित रूप इन शिलालेखों में पाये जाते हैं। नाटकीय प्राकृतों के रूप भी इनकी भाषा में समाविष्ट हैं। मूलतः इनमें पैशाची, मागधी और शौरसेनी प्राकृत की प्रवृत्तियाँ पायी जाती हैं। पश्चिमोत्तरी शिलालेख पैशाची का स्वरूप उपस्थित करते हैं, पूर्वी मागधी का और दक्षिण पश्चिमी शौरसेनी का भी। शिलालेखों के अतिरिक्त सिक्कों पर भी प्राकृत के लेख उपलब्ध हैं।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

2. मागधी प्राकृत– मगध क्षेत्र की बोली को मागधी कहा जाता है। अन्य प्राकृतों की तरह इसका स्वतन्त्र साहित्य तो उपलब्ध नहीं है, किन्तु संस्कृत-नाटकों और शिलालेखों में इसका भी प्रयोग मिलता है। ऐसा प्रतीत होता है कि मागधी कोई निश्चित भाषा नहीं रही, बल्कि कई बोलियों का सम्मिश्रण इसमें रहा होगा। क्योंकि इसका सम्पर्क भारत की अनेक बोलियों के साथ रहा है। पालि, अर्धमागधी आदि प्राकृतों का विकास इसी प्राकृत से हुआ। मागधी का निश्चित क्षेत्र तय करना कठिन है। फिर भी विद्वानों ने इसे मगध देश की भाषा ही माना है। इसकी प्रकृति शौरसेनी को माना गया है।

शाकारी, चाण्डाली और शाबरी– इन तीन भाषाओं को भी मागधी में सम्मिलित माना जाता है। सभी वैयाकरणों ने इसकी विशेषताओं का उल्लेख किया है। इसकी प्रकृति शौरसेनी मानी गई है।

मागधी प्राकृत के दो रूप मिलते हैं– (1) प्रथम युग की मागधी, जो सम्राट अशोक के शिलालेखों एवं महाकवि अश्वघोष के नाटकों में प्राप्त होती है। (2) दूसरी मध्ययुग की मागधी है, जो भास एवं इनके परवर्ती काल के नाटकों में और प्राकृत-वैयाकरणों द्वारा प्रयुक्त हुई है।

3. पालि भाषा– बौद्ध-त्रिपिटकों एवं सम्बद्ध ग्रन्थों की मूल भाषा पालि है। यह भी प्राकृत भाषा का ही एक रूप (भेद) है। गौतम बुद्ध ने इसे अपने उपदेश का माध्यम बनाया था। इसके नामकरण के सम्बन्ध में विद्वान् एकमत नहीं हैं। कुछ इसे मागधी से विकसित मानते हैं। मागधी और पैशाची प्राकृतों से पालि की पर्याप्त समानता भी है, उसकी कतिपय प्रवृत्तियाँ इसमें उपलब्ध होती हैं। पालि का छान्दस् के साथ भी पर्याप्त साम्य है। इसलिए इसे साहित्यिक प्राकृतों में सर्वाधिक प्राचीन माना जा सकता है। इस दृष्टि से सामान्यतया पालि भी एक प्रकार की प्राकृत ही है। पालि में बौद्धों का विपुल साहित्य उपलब्ध है। इसीलिए मुख्यतया यह बौद्ध साहित्य तक ही सीमित देखी जाती है।

आश्चर्य का विषय है कि सम्राट अशोक बौद्धधर्म का समर्थक होते हुए भी उसने अपने शताधिक शिलालेख आदि पालि भाषा में न लिखवाकर तत्कालीन राष्ट्रभाषा के रूप में लोकप्रिय जनभाषा प्राकृत एवं ब्राह्मीलिपि में लिखवाये। क्योंकि उस समय के बृहत्तर भारतवर्ष की सबसे ज्यादा बोली और समझी जाने वाली भाषा थी। इससे प्राकृत भाषा की लोकप्रियता और व्यापकता ज्ञात होती है।

4. अर्धमागधी प्राकृत– प्राचीन आर्य प्रदेश के आधे भाग में बोली जाने वाली भाषा को अर्धमागधी कहते हैं। इसमें मागधी प्राकृत की कतिपय विशेषताएँ पाये

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

जाने के कारण कुछ विद्वान् इसे अर्धमागधी कहते हैं। मार्कण्डेय के अनुसार शौरसेनी के निकट होने के कारण शौरसेनी को अर्धमागधी भी मानते हैं।

निश्चय ही उपर्युक्त तीनों कथ्यों में सच्चाई मालूम पड़ती है, क्योंकि शौरसेनी और मागधी के क्षेत्र के बीच में बोली जाने वाली भाषा का अर्धमागधी नामकरण सार्थक लगता है। आगमों में अर्धमागधी को अट्ठारह देशी भाषाओं से प्रसूत तथा सर्वभाषामयी भाषा भी बताया गया है। इस भाषा का गद्य और पद्य, दोनों विधाओं का विपुल मात्रा में साहित्य उपलब्ध है। अर्ध-मागधी की रूपसंरचना में मागधी और शौरसेनी का पर्याप्त प्रभाव देखा जाता है। वर्तमान समय में इसी भाषा में श्वेताम्बर जैन परम्परा के आगम ग्रन्थ उपलब्ध हैं।

5. शौरसेनी प्राकृत– शौरसेनी प्राकृत शूरसेन (मथुरा) प्रदेश और इसके आस-पास की भाषा थी। दिगम्बर जैन परम्परा के प्रमुख आगमिक तथा सैद्धान्तिक ग्रन्थ इसी भाषा में निबद्ध हैं। इनमें षट्खण्डागम, कसायपाहुडसुत्त, आचार्य कुन्दकुन्द के साथ-साथ ही आचार्य वट्टकेर, शिवार्य, कार्तिकेय, वसुनंदि, नेमिचंद्र आदि अनेक आचार्यों के आगम ग्रन्थ शौरसेनी प्राकृत में ही लिखे गये हैं। इस भाषा का प्रचार-प्रसार पूर्व में कलिंग, पश्चिम में सौराष्ट्र तथा दक्षिण में कर्नाटक, आन्ध्र, तमिल आदि अनेक प्रदेशों तक था। मध्य-देश तो इसका मूलस्थान ही था। इसे कुछ विद्वान् उपलब्ध अर्धमागधी साहित्य की भाषा से भी अधिक प्राचीन मानते हैं।

कुछ प्राचीन जैन ग्रन्थों की शौरसेनी भाषा में कतिपय विशिष्टताएँ पायी जाती है, जिससे कुछ विद्वानों की दृष्टि में इसे 'जैन शौरसेनी' भी कहा जाता है। किन्तु मात्र कुछ विशेषताओं के कारण मेरी दृष्टि में यह अलग नामकरण उपयुक्त नहीं है। अतः मूलतः यह भी शौरसेनी ही है। वैसे नाटकों की शौरसेनी में जैन शौरसेनी की अपेक्षा कुछ अधिक भिन्नता है। जैन शौरसेनी में जो थोड़ी बहुत भिन्नता है उसमें त का द, क का ग, य श्रुति और प्रथमा एकवचन में ओ मिलते हैं। इसके कृ धातु के कुव्वदि, करेदि, कुणेदि, कुणई, कुणदि तथा क्त्वा के समतुल्य य, च्चा, इय, तु, दूण, ऊण आदि प्रत्यय पाये जाते हैं। शौरसेनी में न का ण हो जाता है।

6. महाराष्ट्री प्राकृत– अनेक विद्वानों के अनुसार 'सामान्य प्राकृत' भाषा का ही दूसरा नाम महाराष्ट्री प्राकृत है। किन्तु इस नामकरण का मूल कारण उत्पत्ति स्थान ही है। महाराष्ट्र प्रदेश में जो प्राचीन प्राकृत प्रचलित थी, महाराष्ट्री प्राकृत जिसे लीलावई-कहा के कर्ता कोऊहल ने मरहट्ट देशी भाषा कहा है।

मरहट्ट देशी भाषा से ही प्राकृत-काव्यों और नाटकों में प्रयुक्त महाराष्ट्री प्राकृत का विकास हुआ। इसमें संस्कृत वर्णों के लोप की प्रवृत्ति सबसे अधिक है। इस

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri
कारण यह ललित और मधुर है। संभवतः इसलिए काव्यों और नाटकों में इसे सर्वाधिक स्थान मिला है। महाराष्ट्री प्राकृत भाषा का कथा और काव्य साहित्य भी विपुल मात्रा में उपलब्ध है।

जैन काव्य-ग्रन्थों और नाटक आदि इतर काव्य-ग्रन्थों की महाराष्ट्री में कुछ भिन्नता भी देखी जाती है। इसलिए कुछ विद्वान् इसे भी जैन महाराष्ट्री कह देते हैं। 'जैनमहाराष्ट्री' और 'महाराष्ट्री' इसके ये दो भेद भी स्वीकार करते हैं। महाराष्ट्री प्राकृत से ही प्राचीन और वर्तमान मराठी भाषा निःसृत हुई।

इसे सामान्य प्राकृत माने जाने के कारण भी अनेक आधुनिक भारतीय भाषायें तथा बोलियाँ इससे सर्वाधिक प्रभावित देखी जाती हैं।

7. पैशाची प्राकृत– पैशाची एक बहुत ही प्राचीन प्राकृत है। यह किसी प्रदेश विशेष की भाषा नहीं थी, अपितु जन-जाति विशेष की भाषा थी। मुख्यतः यह जन-जाति कैकय, शूरसेन और पांचाल में निवास करती रही होगी या भ्रमण करती रही होगी। इसका प्रचार भी इन्हीं प्रदेशों में रहा। सम्भवतः यह भ्रमणशील जाति भारत में आधुनिक बंजारों और हंगरी में जिप्सी जातियों की पूर्वज रही हो।

देश के उत्तर-पश्चिम प्रान्तों के कुछ भाग को पैशाच देश कहा जाता रहा है। मार्कण्डेय ने इसे शूरसेन और पांचाल की भाषा कहा है। वाग्भट्ट ने पैशाची को भूतभाषा भी कहा है। इसके अनुसार यह पिशाच जाति के लोगों की भाषा थी।

सर जार्ज ग्रियर्सन के अनुसार पैशाची का आदिम स्थान उत्तर पश्चिम पंजाब अथवा अफगानिस्तान प्रान्त है। यहीं से इस भाषा का विस्तार अन्यत्र हुआ है। पिशाच, शक और यवनों के मेल की एक जाति थी, जिसका निवास स्थान सम्भवतः भारत के पश्चिमोत्तर प्रदेश में रहा है, उन्हीं की बोली का आधार पैशाची प्राकृत है। वैसे भी पंजाब, सिन्ध, ब्यूचिस्तान और कश्मीर की भाषाओं पर इसका प्रभाव आज भी दिखता है।

चीनी तुर्किस्तान के खरोष्ठी शिलालेख तथा उद्योतनसूरि रचित कुवलयमाला कथा में इसकी विशेषताएँ देखने को मिलती हैं। गुणाढ्य की बृहत्कथा पैशाची भाषा की प्रमुख रचना थी, जो आज उपलब्ध नहीं है। किन्तु इसके रूपान्तर उपलब्ध हैं।

8. चूलिका पैशाची प्राकृत– कुछ विद्वानों ने चूलिका पैशाची को पैशाची का ही भेद माना है, जबकि कुछ विद्वान् इसे स्वतन्त्र भाषा मानते हैं। चीन, तुर्किस्तान से मिले पट्टिका लेखों में इसकी विशेषताएँ पायी जातीं हैं।

अपभ्रंश भाषा-हिन्दी तथा अनेक प्रादेशिक भाषाओं की जननी– प्राकृत भाषाओं को जब व्याकरण के नियमों में बाँधा गया, तब पुनः जनभाषाओं के प्रवाह को

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

रोका न जा सका, और इनसे अपभ्रंश भाषाओं का जन्म हुआ। कालान्तर में अपभ्रंशों को नियमबद्ध करने के प्रयत्न हुए, जिससे आधुनिक भारतीय आर्यभाषाएँ उत्पन्न हुईं हैं, इनमें हिन्दी, बंगला, उड़िया, असमियां, भोजपुरी, मगही, मैथिली, पंजाबी, राजस्थानी, गुजराती, मराठी, कन्नड़, तमिल, तेलुगु, मलयालम आदि अनेक भाषाएँ सम्मिलित हैं।

इस तरह प्राकृत और आधुनिक भारतीय आर्यभाषाओं की मध्यवर्ती भाषा है अपभ्रंश अर्थात् आधुनिक आर्यभाषाओं व पूर्व भारतीय आर्यभाषा की कड़ी का नाम अपभ्रंश है। भाषावैज्ञानिक दृष्टि से कहा जाता है कि प्राकृत की अन्तिम अवस्था अपभ्रंश है। परन्तु स्वरूप की दृष्टि से प्राकृतों से अपभ्रंश का पार्थक्य स्पष्ट है।

इस तरह प्राकृत भाषाओं से जन्मी यह एक साहित्यिक प्रमुख भाषा है। जब विभिन्न प्राकृतें साहित्यारूढ़ हो गई, तब जनभाषा के रूप में प्रचलित उन्हीं प्राकृतों में से एक अन्य भाषा का जन्म हुआ, जिसे भाषाशास्त्रियों एवं विद्वानों ने अपभ्रंश नाम दिया है। यह अपभ्रंश भी विभिन्न क्षेत्रीय या भौगोलिक कारणों से अनेक नामों से अभिहित की गई। कुछ लोगों ने संस्कृत से च्युत भाषा को अपभ्रंश कहा, तो कुछ ने आभीर जाति के लोगों की भाषा को अपभ्रंश बताया।

अधिकांश विद्वानों और स्वयं अपभ्रंश के कवियों ने इसे देशभाषा ही माना है, जो सर्वथा उपयुक्त है। वस्तुतः प्राकृत के बाद अपभ्रंश भाषा का प्रचलन भाषा-विकास की एक सामान्य प्रक्रिया है।

शास्त्रों में संस्कृत से इतर सभी भाषाओं को अपभ्रंश की संज्ञा प्रदान की गई थी, परंतु काव्य में तो अपभ्रंश एक विकसित तथा स्वतंत्र परंपरा के रूप में स्वीकार की गई है। काव्य में अपभ्रंश को अत्यधिक प्राकृतिक तथा प्रकृति के अत्यंत निकट भाषा के रूप में स्वीकार किया गया है। काव्य में यह भाषा साहित्य अभिव्यक्ति के साथ-साथ सौंदर्याभिव्यक्ति या रसाभिव्यक्ति के लिए अत्यधिक प्रसिद्ध हो गई। भामह ने अपने काव्यालंकार (1/16) में कहा है कि–

शब्दार्थौ सहितौ काव्यं गद्यं पद्यं च तद् द्विधा।
संस्कृतं प्राकृतं चान्यदपभ्रंश इति त्रिधा॥

इसका आशय यह है अपभ्रंश भी एक काव्योपयोगी भाषा है।

अपभंश के भेद– सामान्यतया अपभ्रंश के पूर्वी और पश्चिमी ये दो भेद किए गये हैं। विद्वान् पूर्वी अपभ्रंश को मागधी से तथा पश्चिमी अपभ्रंश को शौरसेनी और महाराष्ट्री से जोड़ते हैं। प्राकृत वैयाकरण मार्कण्डेय ने अपभ्रंश के सत्ताईस भेद गिनाए हैं– ब्राचड, लाटी, वैदर्भी, उपनागर, नागर, बार्बर, आवंति, पंचाली, टाक्क, मालवी,

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri
कैकयी, गौड़ी, कौन्तेली, औद्री, पाश्चात्या, पाण्ड्या, कौन्तली, सैंघली, कलिंगी, प्राच्या, कार्शाटी, कांची, द्राविडी, गौर्जरी, आभीरी, मध्यदेशिया एवं वैतालिका।

अपभ्रंश की विशेषताएँ— उकार-बहुलता अपभ्रंश की प्रमुख विशेषता है। इसमें लिङ्गभेद प्रायः समाप्त हो गया। आत्मनेपद का प्रयोग भी दिखलाई नहीं पड़ता। क्त्वा प्रत्यय के रूप—कृ धातु के साथ कर ईउ-करिउ, कर-इ— वि-करिवि, कर— एप्पि-करेप्पि, कर— एविणु-करेविणु आदि दृष्टव्य हैं।

वस्तुतः आधुनिक आर्य भाषाओं के नामों की झलक हमें अपभ्रंशों के नामों में ही प्राप्त हो जाती है। इसलिए अपभ्रंश को मध्यकालीन एवं आधुनिक आर्य भाषाओं के बीच की सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण कड़ी माना गया है। अपभ्रंशों और समकालीन जनभाषाओं (प्राकृतों) से ही विभिन्न आधुनिक आर्य भाषाओं का जन्म हुआ। विशेषकर वर्तमान हिन्दी भाषा इन्हीं भाषाओं से उत्पन्न है। अपभ्रंश भाषा हिन्दी भाषा की जननी तो है ही, साथ ही देश की अनेक प्रादेशिक भाषाएँ भी इससे प्रभावित होकर विकसित हुईं।

इस प्रकार भारतीय भाषाओं की उत्पत्ति और विकास में मूलतः प्राकृत एवं समकालीन अपभ्रंश भाषाओं का महत्त्वपूर्ण योगदान है। अतः इन भाषाओं के अध्ययन, अनुसंधान, विकास एवं प्रचलन में लाने के लिए हम सभी को तथा सरकार को समवेत रूप में प्रयत्नशील होना आवश्यक है, तभी सभी भाषाओं के विकास को गतिशील बनाये रखा जा सकेगा।

संदर्भ-ग्रंथ—

1. आयारो— जैन विश्व भारती, लाडनूँ, राजस्थान
2. गाथा सप्तशती— मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली
3. पाइअसद्दमहण्णवो— प्राकृत ग्रंथ परिषद, वाराणसी (1972)
4. अभिनव प्राकृत व्याकरण— नेमिचन्द्र शास्त्री, तारा पब्लिकेशन, वाराणसी
5. प्राकृत-अपभ्रंश तथा अन्य भारतीय भाषाएँ— डॉ. प्रेमसुमन जैन, भारत जैन महामण्डल, बम्बई
6. प्राकृत भाषाओं का व्याकरण— डॉ. पिशल, राष्ट्रभाषा परिषद्, पटना (1958)

7) प्राकृत साहित्य का इतिहास— डॉ. जगदीशचंद्र जैन, चौखम्बा विद्या भवन, वाराणसी
8) प्राकृत-भाषा एवं साहित्य, डॉ. प्रेमसुमन जैन, प्राकृत ज्ञान भारती ट्रस्ट, बैंग्लोर
9) प्राकृत-भाषा-विमर्श— प्रो. फूलचन्द जैन प्रेमी, बी.एल. इंस्टीट्यूट ऑफ इंडोलॉजी, दिल्ली
10) शौरसेनी प्राकृत भाषा और साहित्य का इतिहास— डॉ. इन्दु जैन, सम्पूर्णानंद संस्कृत विश्वविद्यालय, वाराणसी (2011)

❖❖

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

क्षायिक सम्यक्त्व का स्वामित्व

—डॉ. ऋषभ जैन*

- दर्शनमोह की क्षपणा का प्रस्थापक कौन?
- पादमूल का अर्थ क्या?
- दर्शनमोह की क्षपणा का निष्ठापक कौन?
- स्त्रियों के क्षायिक सम्यक्त्व हो सकता है या नहीं?
- क्षायिक सम्यग्दर्शन के लिए कौन-सा संहनन आवश्यक है?

भूमिका

सम्यक्त्व की प्राप्ति मोक्षमार्ग का प्रथम सोपान है। दर्शनमोह कर्म के उपशम, क्षय या क्षयोपशम होने पर उत्पन्न होने वाला तत्त्वार्थों का यथार्थ श्रद्धान सम्यग्दर्शन है।[1] दर्शनमोह के उपशम, क्षय व क्षयोपशम से उत्पन्न होने वाला सम्यग्दर्शन क्रमशः औपशमिक, क्षायिक व क्षायोपशमिक सम्यग्दर्शन कहलाता है। इनमें क्षायिक सम्यक्त्व का विशिष्ट महत्त्व है।

क्षायिक सम्यक्त्व सहित जीव ही मोक्ष प्राप्त करता है। इसका ही काल सादि-अनंत है, अर्थात् यह सिद्ध अवस्था पर्यंत रहता है। यह अप्रतिपाती होता है, अर्थात् एक बार उत्पन्न होने के बाद पुनः नष्ट नहीं होता। तथा क्षायिक सम्यक्त्व प्राप्त जीव अधिक से अधिक तीन भवों में मुक्ति प्राप्त करता ही है।[2] किन्तु यह सम्यक्त्व किन जीवों के हो सकता है, यह आगम के अनुसार विचारणीय है।

क्षायिक सम्यक्त्व का स्वामित्व दो प्रकार से समझना चाहिए— प्रस्थापक तथा निष्ठापक। प्रारम्भ करना प्रस्थापना है और पूर्ण करना निष्ठापना। दर्शनमोह के क्षय की प्रक्रिया को प्रारम्भ करने वाला जीव प्रस्थापक कहलाता है तथा इस क्षपणा को पूर्ण करने वाला जीव निष्ठापक कहलाता है। इस क्षपणा की सम्पूर्ण प्रक्रिया का काल अंतर्मुहूर्त है। प्रस्थापना और निष्ठापना एक ही भव में संपन्न

*श्री टोडरमल स्मारक भवन, A-4, बापूनगर, जयपुर-302015 मोबाईल : 7838749726
ईमेल : jainrishabh156@gmail.com

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri
की जा सकती है। यदि क्षपणा प्रारंभ करके पूर्ण करने से पहले ही किसी जीव का मरण हो जाए, तो निष्ठापना अगले भव में भी हो सकती है।

दर्शनमोह की क्षपणा का प्रस्थापक कौन?

दर्शनमोहनीय की तीन प्रकृतियाँ हैं– मिथ्यात्व, सम्यग्मिथ्यात्व, सम्यक्प्रकृति। इनमें मिथ्यात्व का संक्रमण सम्यग्मिथ्यात्व में होता है, सम्यग्मिथ्यात्व का सम्यक्प्रकृति में और सम्यक्प्रकृति का स्वमुख से क्षय होता है।[3] यह दर्शनमोह के क्षय की प्रक्रिया है। इस प्रक्रिया के विस्तृत स्पष्टीकरण के लिए धवला पुस्तक 6[4] व लब्धिसार का क्षायिकसम्यक्त्व अधिकार देखना चाहिए।

दर्शनमोह की क्षपणा का प्रारम्भ करने वाला जीव क्षपणा से पूर्व तीन करण परिणामों के द्वारा अनन्तानुबन्धी की विसंयोजना करता है।[5] उसके बाद अंतर्मुहूर्त विश्राम कर दर्शनमोह का क्षय करने के लिए पुनः तीन करण परिणाम करता है। उन करण परिणामों के द्वारा मिथ्यात्व और सम्यग्मिथ्यात्व को सम्यक्प्रकृति में संक्रमित करता है।[6] तथा स्थितिकाण्डकघात आदि आवश्यक करता है।

अधःप्रवृत्तकरण के प्रथम समय से लेकर अंतर्मुहूर्त काल तक मिथ्यात्व और सम्यग्मिथ्यात्व प्रकृतियों को सम्यक्त्वप्रकृति में संक्रमित करता है। उस अंतर्मुहूर्त काल तक वह जीव दर्शनमोह की क्षपणा का प्रस्थापक कहलाता है।[7] शास्त्रों में उल्लिखित प्रस्थापना के सम्बन्ध में कुछ विशेष तथ्य ज्ञातव्य हैं–

- क्षायिक सम्यक्त्व की उत्पत्ति (प्रस्थापना) केवल कर्मभूमिया मनुष्य को ही संभव है।
- वहाँ भी क्षायोपशमिक सम्यक्त्व प्राप्त जीव ही क्षायिक सम्यक्त्व प्राप्त कर सकता है।
- वह जीव चौथे से सप्तम किसी भी गुणस्थान में क्षायिक सम्यक्त्व प्राप्त कर सकता है।

प्रस्थापना के विषय में षट्खण्डागम सूत्र का उल्लेख दृष्टव्य है–

"दंसणमोहणीयं कम्मं खवेदुमाढवेंतो कम्हि आढवेदि? अड्ढाइज्जेसु दीव-समुद्देसु पण्णारसकम्मभूमीसु जम्हि जिणा केवली तित्थयरा तम्हि आढवेदि॥"

अर्थ– दर्शनमोहनीय कर्म का क्षपण करने के लिए आरंभ करता हुआ यह जीव कहाँ पर आरंभ करता है? अढ़ाई द्वीप-समुद्रों में स्थित पंद्रह कर्मभूमियों में जहाँ जिस काल में जिन, केवली और तीर्थंकर होते हैं, वहाँ उस काल में आरंभ करता है।[8]

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

इस सूत्र संबंधी धवला-टीकागत शंका-समाधान इस प्रकरण के स्पष्टीकरण हेतु दृष्टव्य है–

"...जिनकी वहाँ पर ही उत्पत्ति होती है, और अन्यत्र उत्पत्ति संभव नहीं है, उन ही मनुष्यों के पंद्रह कर्मभूमियों का व्यपदेश किया गया है। (तिर्यंचों की उत्पत्ति अढ़ाई द्वीप के बाहर भी संभव है।)...

...दुःषमा, अतिदुःषमा, सुषमासुषमा, सुषमा और सुषमादुःषमा काल में उत्पन्न हुए मनुष्यों के दर्शनमोह की क्षपण निषेध करने के लिए 'जहाँ जिन होते हैं' यह वचन कहा है। जिस काल में जिन संभव हैं, उस ही काल में दर्शनमोह की क्षपणा का प्रस्थापक होता है, अन्य कालों में नहीं।

देशजिनों का प्रतिषेध करने के अर्थ सूत्र में केवली पद ग्रहण किया है। जिस काल में केवलज्ञानी होते हैं, उस ही काल में दर्शनमोह की क्षपणा होती है, अन्य कालों में नहीं। तीर्थंकर के पादमूल में ही दर्शनमोह की क्षपणा प्रारम्भ करता है। (ऐसा एक मत है)

अथवा, 'जिन' ऐसा कहने पर चतुर्दश पूर्वधारी ग्रहण करने चाहिए; 'केवली' ऐसा कहने पर तीर्थंकर नाम कर्म के उदय से रहित केवलज्ञानी ग्रहण करने चाहिए; 'तीर्थंकर' ऐसा कहने पर तीर्थंकर नाम कर्म के उदय से उत्पन्न हुए आठ महाप्रातिहार्य और चौंतीस अतिशयों से सहित तीर्थंकर केवली ग्रहण करने चाहिए। इन तीनों के पादमूल में दर्शनमोह की क्षपणा का प्रारम्भ करता है।

यहाँ 'जिन' शब्द की आवृत्ति (पुनः ग्रहण) करके यह समझना चाहिए कि जिन दर्शनमोह की क्षपणा प्रारम्भ करते हैं; अन्यथा तीसरी पृथ्वी से आने वाले कृष्ण आदि के तीर्थंकरत्व की उपपत्ति नहीं बन सकेगी, ऐसा किन्हीं आचार्यों का व्याख्यान है। इस व्याख्यान के अभिप्राय से दुःषमा, अतिदुःषमा, सुषमा-सुषमा और सुषमा कालों में उत्पन्न हुए जीवों के दर्शनमोह की क्षपणा नहीं होती, अवशिष्ट दोनों कालों में उत्पन्न हुए जीवों के दर्शनमोह की क्षपणा होती है।"[9]

धवला के इस विशद विवेचन से क्षायिक सम्यक्त्व की प्रस्थापना के सम्बन्ध में निम्नलिखित तथ्य सामने आते हैं–

– कर्मभूमिया मनुष्य ही दर्शनमोह की क्षपणा का प्रारंभ कर सकता है, न अन्य गति का जीव और न ही भोगभूमिया मनुष्य।
– केवली, श्रुतकेवली या तीर्थंकर के पादमूल में ही दर्शनमोह की क्षपणा प्रारंभ हो सकती है।
– दुःषमा-सुषमा काल में उत्पन्न हुआ जीव ही दर्शनमोह की क्षपणा प्रारंभ कर

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri
सकता है।

– जो जीव उसी भव में तीर्थंकर अथवा जिन होने वाले हैं, उन्हें सुषमा-दुःषमा काल में भी दर्शनमोह की क्षपणा हो सकती है।

धवला के इस विवेचन से यह भी स्पष्ट होता है कि पंचम काल में उत्पन्न हुए जीव को केवली, श्रुतकेवली का सान्निध्य मिलने पर भी क्षायिक सम्यक्त्व नहीं हो सकता। दो कालों के अतिरिक्त शेष काल में उत्पन्न हुए जीवों की ऐसी ही अयोग्यता है।

पादमूल का अर्थ

क्षायिक सम्यग्दर्शन केवली व श्रुतकेवली के पादमूल में ही संभव है। 'पादमूल' के संबंध में शास्त्रों में कुछ विशेष स्पष्टीकरण नहीं किया गया है। पादमूल की आवश्यकता का कारण बताते हुए इतना ही कहा गया है कि क्षायिक सम्यग्दर्शन के लिए जैसी विशुद्धि चाहिए, वह केवली-श्रुतकेवली पादमूल के बिना संभव नहीं है।

इसका उल्लेख जयधवला में किया गया है– "अदिट्ठतित्थयरादिमाहप्पस्स दंसणमोहक्खवण-णिबंधकरणपरिणामाणमणुप्पत्तीदो।"[10] अर्थ– जिसने तीर्थंकर आदि के माहात्म्य को नहीं अनुभवा है, उसके दर्शनमोहनीय की क्षपणा के कारणभूत करणपरिणामों की उत्पत्ति नहीं हो सकती।

इसमें यही समझ में आता है कि केवली भगवान् अथवा श्रुतकेवली का साक्षात् सान्निध्य ही उनका पादमूल है। केवली अथवा श्रुतकेवली किसी नगर आदि में विराजते हों, उस क्षेत्र में होना ही पादमूल नहीं कहा जा सकता। क्योंकि जैसी विशुद्धि उनके साक्षात् सान्निध्य से होती है, वैसी विशुद्धि समान नगर आदि में रहने मात्र से संभव नहीं है। इसी प्रकार भगवान् का दर्शन कर लिया हो और बाद में क्षपणा प्रारंभ हो जाये, ऐसा भी संभव नहीं लंगता, कारण कि उस प्रकार की परिणाम विशुद्धि बाद में संभव नहीं होती।

केवली व श्रुतकेवली का पादमूल तीर्थंकर प्रकृति का बंध प्रारंभ करने के लिए भी अनिवार्य कहा गया है। क्योंकि उसके लिए भी उत्कृष्ट विशुद्धि की आवश्यकता है जो अन्यत्र संभव नहीं है। इस संबंध में गोम्मटसार कर्मकाण्ड की टीका का उल्लेख दृष्टव्य है– "तेऽपि प्रत्यक्षकेवलिश्रुतकेवलिश्रीपादोपान्ते एव।... केवलिद्वयान्त एवेति नियमः तदन्यत्र तादृग्विशुद्धिविशेषासंभवात्। अर्थ– वे भी प्रत्यक्ष साक्षात् केवली श्रुतकेवली के चरणों के निकट में ही करते हैं।... केवली श्रुतकेवली के निकट में ही बंध का नियम कहने का कारण यह है कि अन्यत्र उस प्रकार की विशेष विशुद्धि संभव नहीं है।"[11]

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

यद्यपि यह उल्लेख तीर्थंकर प्रकृति के बंध के संबंध में है, तथापि तीर्थंकर प्रकृतिबंध व दर्शनमोह की क्षपणा दोनों में ही परिणाम-विशुद्धि के लिए केवली-श्रुतकेवली का पादमूल समान कहा है। कर्मकाण्ड के उपर्युक्त उद्धरण में स्पष्टरूप से केवली-श्रुतकेवली का प्रत्यक्ष सान्निध्य और उनके चरणों की निकटता का उल्लेख है। इससे क्षायिक सम्यक्त्व के लिए भी इस प्रकार की प्रत्यक्ष निकटता ही अनिवार्य प्रतीत होती है, न कि मात्र निकट क्षेत्र अथवा निकट कालवर्ती सान्निध्य।

लब्धिसार की टीका से भी ऐसा ही संकेत प्राप्त होता है। वहाँ क्षायिक सम्यक्त्व की प्राप्ति की चर्चा का उल्लेख देखें– "यो मनुष्यः पंचदशकर्मभूमिसमुत्पन्नः पर्याप्तः तीर्थंकरपादमूले इतरकेवलिश्रुतकेवलिनोः पादमूले वा सन्निहितः स एव दर्शनमोहस्य प्रस्थापको भवति।" अर्थ– जो मनुष्य कर्मभूमि में उत्पन्न हुआ तीर्थंकर या अन्य केवली या श्रुतकेवली के पादमूल में बैठा हो, वही दर्शनमोह की क्षपणा का प्रस्थापक होता है।[12] यहाँ सन्निहित पद से यह संकेत दिया है कि क्षायिक सम्यक्त्व के लिए तीर्थंकर आदि के चरणों के निकट उपस्थिति अनिवार्य है।

तथा संस्कृत व्याकरण अनुसार 'पादमूल' में पाद का अर्थ चरण होता है और मूल का अर्थ निचला भाग है। वाचस्पत्य कोश में पादमूल का दूसरा अर्थ चरणों की समीपता किया गया है "चरणस्याधोभागे चरणसमीपे च।"[13] तदनुसार भी पादमूल से तीर्थंकर आदि की प्रत्यक्ष निकटता ही अभीष्ट है। उक्त तथ्य व प्रमाणों से क्षायिक सम्यक्त्व के लिए तीर्थंकर, केवली या श्रुतकेवली का प्रत्यक्ष सान्निध्य व समीपता अनिवार्य कही जा सकती है।[14]

समीपता से ऐसा भी अभिप्राय नहीं समझना चाहिए कि केवली-श्रुतकेवली के चरणों में ही बैठा हो। यथा समवसरण में गया हुआ मनुष्य पुरुषों वाली सभा में बैठा हो अथवा किन्हीं श्रुतकेवली आचार्य का हजारों मुनियों का संघ हो या सभा हो, वहाँ बैठा हो, ऐसी स्थितियों में चरणों के अतिनिकट न होने पर भी वह उनका पादमूल ही कहलायेगा।

इस प्रकार कर्मभूमिज मनुष्य तीर्थंकर, केवली या श्रुतकेवली के पादमूल में दर्शनमोह की क्षपणा की प्रस्थापना करता है।[15]

दर्शनमोह की क्षपणा का निष्ठापक कौन?

दर्शनमोह की क्षपणा के प्रस्थापक जीव ने मिथ्यात्व और सम्यग्मिथ्यात्व को सम्यक्प्रकृति में संक्रमित कर दिया है। यह संक्रमण पूर्ण होने के बाद भी अनिवृत्तिकरण का कुछ काल शेष रहता है । इस काल के दौरान ही संक्रमण के अगले समय से लेकर क्षायिक सम्यक्त्व प्राप्त करने से पूर्व तक यह जीव दर्शनमोह

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri
की क्षपणा का निष्ठापक कहलाता है। यही लब्धिसार की टीका में कहा है "मिथ्यात्वसम्यग्मिथ्यात्वद्रव्यस्य सम्यक्त्वप्रकृतिरूपेण संक्रमणानंतरसमयादारभ्य क्षायिकसम्यक्त्वग्रहणप्रथमसमयात्प्राक् निष्ठापको भवतीत्यर्थः।"[16] इस प्रकार अनिवृत्तिकरण काल में ही यह जीव निष्ठापक हो जाता है।[17]

इस निष्ठापक जीव के दर्शनमोह की केवल सम्यक्प्रकृति शेष है। उसे भी वह अनिवृत्तिकरण में क्रमशः हीन करता जाता है। जब अनिवृत्तिकरण भी संपन्न हो जाता है, तब वह जीव कृतकृत्यवेदक सम्यग्दृष्टि कहलाता है।[18]

जिसके द्वारा कृत्य अर्थात् करने योग्य कृत अर्थात् कर लिया गया है, वह कृतकृत्य है। यहाँ जिस जीव ने दर्शनमोह की क्षपणा के योग्य स्थितिकाण्डकघात आदि कार्य अनिवृत्तिकरण में कर लिए हैं, वह कृतकृत्यवेदक सम्यग्दृष्टि है। लब्धिसार की टीका से ऐसा निरुक्त्यर्थ स्पष्ट होता है– "दर्शनमोहक्षपणयोग्यस्थिति-काण्डकादिकरणीयस्यानिवृत्तिकरणकालचरंसमये एव निष्ठितत्वात्। कृतं निष्ठितं कृत्यं करणीयं यस्य स कृतकृत्यः इति निरुक्तिसंभवात्।"[19]

यह कृतकृत्यवेदक सम्यग्दृष्टि नियम से अंतर्मुहूर्त में सम्यक्प्रकृति का क्षय करके क्षायिक सम्यग्दृष्टि हो जाता है।

यदि कृतकृत्यवेदक सम्यग्दृष्टि का मरण हो जाता है, तो वह अगले भव में जाकर प्रारंभिक अंतर्मुहूर्त में ही दर्शनमोह की क्षपणा की निष्ठापना करता है। अर्थात् क्षपणा पूर्ण करके क्षायिक सम्यग्दर्शन प्राप्त करता है।

विशेष यह है कि यदि उस जीव ने सम्यक्त्व होने के बाद आयु का बंध किया हो, तो नियम से वैमानिक देवों में ही उत्पन्न होता है। तथा यदि पहले मिथ्यात्व अवस्था में रहते हुए अगले भव की आयु का बंध कर लिया हो, तब वह कृतकृत्यवेदक सम्यग्दृष्टि मरकर चारों ही गतियों में उत्पन्न हो सकता है। वहाँ मनुष्य, तिर्यंच, नरक या देव आयु का बंध करने पर क्रमशः भोगभूमिया मनुष्य, भोगभूमिया तिर्यंच, प्रथम पृथ्वी का नारकी या वैमानिक देव ही होता है। इस प्रकार चारों ही गतियों के जीव दर्शनमोह की क्षपणा के निष्ठापक हो सकते हैं।[20]

यही बात लब्धिसार में कही गई है–

> णिट्ठवगो तट्ठाणे विमाणभोगावणीसु धम्मे य।
> किदकरणिज्जो चदुसु वि गदीसु उप्पज्जदे जम्हा॥[21]

अर्थ– निष्ठापक जीव उसी स्थान पर, वैमानिक देवों में, भोगभूमियों में या धर्मा नामक प्रथम नरक पृथिवी में भी हो सकता है, क्योंकि कृतकृत्यवेदक जीव चारों ही गतियों में उत्पन्न हो सकता है।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

स्त्रियों के क्षायिक सम्यक्त्व हो सकता है या नहीं?

सम्यग्दृष्टि जीव आगामी भव में स्त्री नहीं होता– ऐसा नियम है, अतः जन्म से तो स्त्रीवेदी जीव के क्षायिक सम्यक्त्व नहीं हो सकता। परन्तु प्रश्न यह है कि कर्मभूमि की स्त्रियाँ क्षायिक सम्यक्त्व उत्पन्न कर सकती हैं अथवा नहीं? इस सम्बन्ध में शास्त्रों के विभिन्न उल्लेखों पर विचार करना आवश्यक है।

सर्वार्थसिद्धि में स्त्रियों को तीनों सम्यक्त्वों का होना कहा है–

''मानुषीणां त्रितयमप्यस्ति पर्याप्तिकानां नापर्याप्तिकानाम्।''[22]

अर्थ– मनुष्यिनियों के तीनों ही सम्यग्दर्शन होते हैं, किन्तु ये पर्याप्तक मनुष्यिनी के होते हैं, अपर्याप्तक मनुष्यिनी के नहीं।[23]

इस कथन से सामान्यतया तो यही प्रतीत होता है कि स्त्रियों के भी क्षायिक सम्यक्त्व हो सकता है, किन्तु विविध प्रमाणों से विचार करने पर यह स्पष्ट होता है कि सर्वार्थसिद्धि का यह कथन भाववेद की अपेक्षा है, द्रव्यवेद की अपेक्षा नहीं। शरीर की पुरुष आदि रूप रचना द्रव्यवेद है और जीव के पुरुष आदि संबंधी भाव भाववेद हैं। यह सर्वार्थसिद्धि के कथन से स्पष्ट होता है ''द्रव्यलिंग योनिमेहनादिनामकर्मोदयनिर्वर्तितम्। नोकषायोदयापादितवृत्ति भावलिंगम्। अर्थ– जो योनि, मेहन आदि नाम कर्म के उदय से रचा जाता है वह द्रव्यलिंग है और जिसकी स्थिति नोकषाय के उदय से प्राप्त होती है वह भावलिंग है।''[24]

ये द्रव्य व भाववेद किसी जीव को सम और किसी को विषम हो सकते हैं। इसे जीवकाण्ड की व्याख्या में स्पष्ट किया गया है ''एते द्रव्यभाववेदाः प्रायेण प्रचुरवृत्त्या देवनारकेषु भोगभूमिसर्वतिर्यग्मनुष्येषु च समाः द्रव्यभावाभ्यां समवेदोदयांकिता भवंति। क्वचित्कर्मभूमि–मनुष्यतिर्यग्गतिद्वये विषमाः विसदृशा अपि भवंति। तद्यथा–द्रव्यतः पुरुषे भावपुरुषः भावस्त्रीः भावनपुंसकं। द्रव्यस्त्रियां भावपुरुषः भावस्त्री भावनपुसकं। द्रव्यनपुंसके भावपुरुषः भावस्त्री भावनपुंसकं इति। विषमत्वं द्रव्य-भावयोरनियमः कथितः।

अर्थ– ये द्रव्य और भाववेद दोनों प्रायः अर्थात् प्रचुररूप से देव-नारकियों में तथा सर्व ही भोगभूमिज मनुष्य व तिर्यंचों में समान ही होते हैं, अर्थात् उनके द्रव्य व भाव दोनों ही वेदों का समान उदय पाया जाता है।

परंतु क्वचित् कर्मभूमिज मनुष्य व तिर्यंच इन दोनों गतियों में विषम या विसदृश भी होते हैं। वह ऐसे कि द्रव्यवेद से पुरुष होकर भाववेद से पुरुष, स्त्री व नपुंसक तीनों प्रकार का हो सकता है। इसी प्रकार द्रव्य से स्त्री और भाव से स्त्री, पुरुष व नपुंसक तथा द्रव्य से नपुंसक और भाव से पुरुष, स्त्री व नपुंसक। इस प्रकार

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri
की विषमता होने से तहाँ द्रव्य और भाववेद का कोई नियम नहीं है।"[25]

अतः स्पष्ट है कि द्रव्य व भाववेद में विषमता भी संभव है। सर्वार्थसिद्धि का उपर्युक्त कथन भाववेदी स्त्रियों के संबंध में हैं, द्रव्यवेदी स्त्रियों के संबंध में नहीं। इसके स्पष्टीकरण के लिए यहाँ कुछ उल्लेख दिए जा रहें हैं–

◆ सर्वार्थसिद्धि के उपर्युक्त वाक्य के टिप्पण में सम्पादक ने एक वाक्य को उद्धृत किया है। उसमें मनुष्यिनियों में क्षायिक सम्यक्त्व भाव स्त्रीवेद की अपेक्षा कहा गया है– 'क्षायिकं पुनर्भाववेदेनैव'। यह वाक्य सर्वार्थसिद्धि की अन्य हस्तलिखित प्रति में उल्लिखित है।

◆ श्री प्रभाचन्द्र विरचित तत्त्वार्थवृत्तिपद में भी इस कथन के संबंध में यही बात कही गई है 'मानुषीणां भाववेदस्त्रीणां न द्रव्यवेदस्त्रीणां तासां क्षायिका-संभवात्।[26-27] अर्थ– मनुष्यिनियों को अर्थात् भाववेदी स्त्रियों को क्षायिक सम्यक्त्व हो सकता है, द्रव्यवेदी स्त्रियों को नहीं। द्रव्यवेदी स्त्रियों को क्षायिक सम्यक्त्व होना संभव नहीं है।

◆ वहीं विशेषार्थ में पंडित फूलचंदजी सिद्धान्तशास्त्री ने भी इसका संकेत किया है– 'एक बात का उल्लेख करना और आवश्यक प्रतीत होता है, वह यह कि करणानुयोग में गति मार्गणा के आवांतर भेद भाववेद की प्रधानता से किए गए हैं, द्रव्यवेद की प्रधानता से नहीं, इसलिए यहाँ सर्वत्र भाववेदी स्त्रियों का ही ग्रहण किया गया है।[28]

◆ सर्वार्थसिद्धि की प्रारंभिक भूमिका में भी पंडित फूलचंदजी ने इस विषय पर अपने विचार रखे हैं– 'यह तो स्पष्ट ही है कि आगम में 'मनुष्यिनी' पद स्त्रीवेद के उदय वाले मनुष्य गति के जीव के लिए ही आता है। जो लोक में नारी, महिला आदि शब्दों द्वारा व्यवहृत होता है, आगम के अनुसार मनुष्यिनी शब्द का अर्थ उससे भिन्न है।[29]

◆ श्रुतसागर सूरि रचित तत्त्वार्थवृत्ति भी इसका स्पष्ट कथन करती है– 'क्षायिकं तु सम्यक्त्वं यत् मानुषीणामुक्तं तत् भाववेदापेक्षयैव, द्रव्यस्त्रीणां तु सम्यक्त्वं न भवत्येव। अर्थ– जो मनुष्यिनियों के क्षायिक सम्यक्त्व होना कहा है, वह भाववेद की अपेक्षा ही है, द्रव्यस्त्रियों के तो क्षायिक सम्यक्त्व नहीं होता।[30]

◆ धवला ग्रन्थ में मार्गणाओं के प्रकरण में भावमार्गणाओं के ग्रहण करने का निर्देश है।[31] तदनुसार वेद मार्गणा में भी भावस्त्रीवेद का ग्रहण अभीष्ट है।

◆ तत्त्वार्थवार्तिक में भी पुरुषलिंग से ही दर्शनमोह की क्षपणा का प्रारंभ कहा है, जिससे द्रव्यवेदी स्त्रियों का निषेध हो जाता है 'मनुष्यस्य क्षपणामारब्धवतः

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

पुरुषलिङ्गेनैव वृत्तेः।'[32] अर्थः– क्षपणा आरम्भ करने वाले मनुष्य की वृत्ति पुरुष लिंग से ही होती है, अर्थात् उसका पुरुष लिंग ही होता है।

इत्यादि प्रमाणों से यह स्पष्ट हो जाता है कि द्रव्यस्त्रीवेदी के क्षायिक सम्यक्त्व नहीं हो सकता। द्रव्य से पुरुष होना आवश्यक है, फिर वह पुरुष भाव से स्त्री, पुरुष या नपुंसक भी हो सकता है। इसमें कोई आश्चर्य नहीं है, क्योंकि जब तीन में से किसी भी भाववेद सहित जीव को मोक्ष भी प्राप्त हो सकता है[33], तो तीनों भाववेदियों को क्षायिक सम्यग्दर्शन प्राप्त करने में कोई समस्या नहीं रहती।

क्षायिक सम्यग्दर्शन के लिए कौन-सा संहनन आवश्यक है?

एक अन्य जिज्ञासा इस विषय में संहनन संबंधी उत्पन्न होती है। क्या संहनन के क्षायिक सम्यक्त्व की पात्रता में कुछ अंतर पड़ता है? सत्कर्मपंजिका में वज्रवृषभनाराच संहनन के धारी जीव के ही क्षायिक सम्यक्त्व का होना लिखा है व अन्य पाँच संहननों सहित जीव के क्षायिक सम्यक्त्व का निषेध किया है–

"तं खवण सत्तो एदेसिं संहडणाणि उदयसहिदजीवाणं णत्थि त्ति अभिप्पायादो। अर्थ– दर्शनमोह के क्षय की शक्ति इन (अंतिम पाँच) संहननों के उदय सहित जीवों के नहीं होती है, यह अभिप्राय है।"[34]

इससे ऐसा प्रतिभासित होता है कि मात्र प्रथम उत्कृष्ट संहनन धारी जीव ही क्षायिक सम्यक्त्व प्राप्त कर सकता है। किन्तु बात यहीं समाप्त नहीं हो जाती। अन्य प्रमाण से इस तथ्य का निषेध भी उपस्थित होता है।

गोम्मटसार कर्मकाण्ड में प्रत्येक गुणस्थान में उदय योग्य प्रकृतियों व उदय-व्युच्छित्ति की चर्चा की गई है। सामान्यतया गुणस्थानों के व्याख्यान अनुसार छह संहनन प्रकृतियों में से अंतिम तीन संहननों (अर्धनाराच, कीलित, असम्प्राप्तासृपाटिका) का उदय अप्रमत्तविरत नामक सप्तम गुणस्थान तक रहता है; वज्रनाराच और नाराच का उदय उपशांतमोह नामक ग्यारहवें गुणस्थान तक रहता है; तथा वज्रवृषभनाराच संहनन का उदय सयोगकेवली नामक तेरहवें गुणस्थान तक रहता है।[35]

इसी ग्रन्थ में आगे 14 मार्गणाओं के अनुसार प्रत्येक गुणस्थान में उदय योग्य प्रकृतियों व उदय-व्युच्छित्ति की चर्चा की गई है। वहाँ सम्यक्त्व मार्गणा के अंतर्गत क्षायिक सम्यक्त्व में उदय योग्य प्रकृतियों की चर्चा करते हुए सामान्य गुणस्थान के समान ही व्याख्यान किया गया है। अर्थात् अप्रमत्तविरत में अंतिम 3 संहनन का उदय, उपशांतमोह में वज्रनाराच और नाराच का उदय और सयोगकेवली में वज्रवृषभनाराच संहनन का उदय बताया गया है।[36] इसका अर्थ यह हुआ कि

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri
क्षायिक सम्यग्दृष्टि को असंयत सम्यग्दृष्टि से अप्रमत्तविरत गुणस्थान तक छह में से किसी भी संहनन का उदय होना संभव है।

अतः यह बात दृढ़ता से पुष्ट हो जाती है कि छहों में से किसी भी संहनन वाला जीव क्षायिक सम्यग्दर्शन प्राप्त कर सकता है।

प्रश्न– सत्कर्मपंजिका के अनुसार क्षायिक सम्यक्त्व की प्राप्ति तो वज्रवृषभनाराच संहनन में ही होती है। ऐसा भी संभव हो सकता है कि क्षायिक सम्यक्त्व की प्राप्ति तो वज्रवृषभनाराच संहनन में ही हो और उसके बाद अगले भवों में शेष पाँच में से किसी संहनन का उदय हो? अतः आप छहों संहनन वाले जीव को क्षायिक सम्यक्त्व की उत्पत्ति कैसे कह सकते हैं?

समाधान– ऐसा कहना योग्य नहीं है। तर्क से यह स्पष्ट होता है। क्षायिक सम्यग्दर्शन प्राप्त मनुष्य अधिक से अधिक तीन भवों में मुक्त होता ही है। वह यदि देव या नरक गति में जायेगा, तो उसके अगले भव में मनुष्य होकर नियम से मुक्त होगा। तथा यदि मनुष्य या तिर्यंच गति में जाता है, तो भोगभूमि में ही जायेगा। वहाँ से वैमानिक देवों में जाकर उसके अगले भव में मनुष्य होकर नियम से मोक्ष जायेगा।[37]

वह क्षायिक सम्यग्दृष्टि यदि भोगभूमि का मनुष्य या तिर्यंच होगा, तो नियम से वज्रवृषभनाराच संहनन का धारी ही होता है। तथा देवों व नारकियों के किसी भी संहनन का उदय नहीं होता।[38] पुनः वह क्षायिक सम्यग्दृष्टि जीव कर्मभूमि का मनुष्य होगा, तो वहाँ भी तद्भव मोक्षगामी होने से नियम से वज्रवृषभनाराच संहनन का ही उदय होगा। अतः मात्र तब ही शेष 5 संहननों का उदय संभव है जब वह कर्मभूमिया मनुष्य क्षायिक सम्यक्त्व की प्राप्ति करता है।

इससे स्पष्ट हो जाता है कि भले ही मोक्ष की प्राप्ति वज्रवृषभनाराच संहनन वाले जीव को ही होती है, तथापि क्षायिक सम्यक्त्व की प्राप्ति किसी भी संहनन का धारी जीव कर सकता है। ऐसी स्थिति में सत्कर्मपंजिका[39] का उल्लेख विचारणीय हो जाता है। वैसा उल्लेख अन्य किसी भी ग्रन्थ में प्राप्त नहीं होता। तथा कर्मकाण्ड व षट्खण्डागमगत उदय-योग्य प्रकृतियों की चर्चा से भी वह उल्लेख बाधित होता है।

सत्कर्मपंजिका के कर्ता का नाम प्राप्त नहीं होता। इस ग्रन्थ के सैद्धांतिक विवेचन ने विद्वानों को विशेष प्रभावित नहीं किया, वरन वह अनेक स्थानों पर संदेहास्पद ही रहा है। धवला की 16 पुस्तकों के सह सम्पादक पण्डित बालचन्द्र जी शास्त्री ने षट्खण्डागम परिशीलन में सत्कर्मपंजिका के कतिपय उद्धरण पूर्वक

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

ग्रन्थकर्ता के सैद्धांतिक ज्ञान पर प्रश्नचिह्न उपस्थित किया है– "पंजिकाकार का सिद्धान्तविषयक ज्ञान कितना कैसा रहा है, यह समझना कठिन है, क्योंकि उन्होंने जिस किसी भी प्रसंग को स्पष्ट किया है, वह कुछ भी समझ में नहीं आ रहा है।"[40]

तथा सत्कर्मपंजिका के अतिरिक्त किसी भी दिगम्बर शास्त्र में प्रथम संहनन से ही क्षायिक सम्यक्त्व होने का नियम नहीं मिलता, वरन इस प्रकार का मत श्वेताम्बर सम्प्रदाय में प्रचलित है। उदाहरणार्थ उदयस्वामित्व ग्रन्थ में सम्यक्त्व मार्गणा के अंतर्गत क्षायिक सम्यक्त्व में उदय के अयोग्य प्रकृतियाँ बताई गई हैं। वहाँ गाथा में 'अपढम-संघयण' कहा है, जिसके अनुसार प्रथम संहनन के अतिरिक्त शेष पाँच संहनन प्रकृतियों का उदय क्षायिक सम्यक्त्व में नहीं हो सकता।[41]

तथा श्वेताम्बर पंचसंग्रह ग्रन्थ की व्याख्या में दर्शनमोह की क्षपणा के लिए स्पष्ट रूप से प्रथम संहनन की अनिवार्यता बताई गई है– "दर्शनं मिथ्यात्वसम्यग्मिथ्यात्व-सम्यक्त्वरूपं तस्य क्षपणा तस्या अर्हो योग्यो जिनकालीयो जिनविरहणकालसंभवी प्रथमसंहननी च... ।"[42]

इन प्रमाणों से स्पष्ट है कि सत्कर्मपंजिका में उल्लिखित नियम किसी भी प्रकार से दिगम्बरमत सम्मत नहीं है, अपितु स्पष्टरूप से श्वेताम्बरमत अनुसार है। दिगम्बर व श्वेताम्बर ग्रंथों में अपने-अपने मत का स्पष्टरूप से वर्णन है। ऐसे में यह आश्चर्य का विषय है कि सत्कर्मपंजिका मूलरूप से दिगम्बर ग्रन्थ होता हुआ भी दिगम्बरपरम्परा के मूल मत को अस्वीकार करते हुए उससे विरुद्ध मत का व्याख्यान कर रहा है। इस कारण सत्कर्मपंजिका के उल्लेख को शेष दिगम्बर सिद्धान्त ग्रन्थों से विरुद्ध जाकर स्वीकार करना संभव नहीं है।

निष्कर्षतः मुख्यरूप से दुषमासुषमा कर्मभूमि में उत्पन्न हुआ द्रव्यपुरुषवेदी क्षायोपशमिक सम्यग्दृष्टि मनुष्य ही केवली-श्रुतकेवली के पादमूल में दर्शनमोह की क्षपणा का प्रारंभ कर सकता है, तथा वह उसी भव में अथवा चारों गतियों में जाकर अंतर्मुहूर्त में क्षपणा पूर्ण करता है।

सन्दर्भग्रन्थसूची (मू.– मूल ग्रन्थकर्ता, व्या.– व्याख्याकार, सं.– सम्पादक, अनु.– अनुवादक)

- उदयस्वामित्वम्, गुणरत्नसूरीश्वर महाराज (मू.), रश्मिरत्नसूरीश्वर महाराज (व्या.), भव्यसुन्दरविजय म.सा., यशरत्नविजय म. सा. (सं.), जिनगुण आराधक ट्रस्ट, 2013
- कसायपाहुड (जयधवल टीका), गुणधराचार्य (मू.), वीरसेनाचार्य (व्या.), फूलचन्द शास्त्री, महेन्द्रकुमार न्यायाचार्य, कैलाशचन्द्र शास्त्री (सं.), भारतवर्षीय दिगम्बर

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

जैन संघ, चौरासी मथुरा, 2019

- गोम्मटसार कर्मकाण्ड (कर्णाटवृत्ति, जीवतत्त्वप्रदीपिका वृत्ति समन्वित), आचार्य नेमिचंद्र सिद्धान्तचक्रवर्ती (मू.), केशववर्णी, चामुण्डराय (व्या.), डॉ. आदिनाथ नेमिनाथ उपाध्ये, कैलाशचन्द्र शास्त्री (सं., अनु.), भारतीय ज्ञानपीठ, 2017
- गोम्मटसार जीवकाण्ड (कर्णाटवृत्ति, जीवतत्त्वप्रदीपिका वृत्ति समन्वित), आचार्य नेमिचंद्र सिद्धान्तचक्रवर्ती (मू.), केशववर्णी (व्या.), चामुण्डराय (व्या.), डॉ. आदिनाथ नेमिनाथ उपाध्ये, कैलाशचन्द्रशास्त्री (सं०) (अनु०), भारतीय ज्ञानपीठ, 1997
- जैन साहित्य का इतिहास, सिद्धान्ताचार्य पण्डित कैलाशचन्द शास्त्री, श्री गणेशप्रसाद वर्णी जैन ग्रन्थमाला प्रकाशन, वाराणसी, वीर निर्वाण संवत् 2502
- जैनेन्द्रसिद्धान्तकोश (पाँच भाग), जिनेन्द्र वर्णी, भारतीय ज्ञानपीठ, दिल्ली, 2010
- तत्त्वार्थवार्तिक (तत्त्वार्थसूत्र की टीका), उमास्वामी (मू.), आचार्य अकलंक देव (वार्तिककार), महेन्द्रकुमार न्यायाचार्य (सं०), भारतीय ज्ञानपीठ, दिल्ली, 1982
- तत्त्वार्थसूत्रम् (तत्त्वार्थवृत्ति समन्वितम्), आचार्य उमास्वामी (मू.), श्रुतसागरसूरि (व्या.), महेन्द्र कुमार जैन (सं.), भारतीय ज्ञानपीठ, काशी, 1949
- पंचसंग्रह टीका, चन्द्रर्षिमहत्तर (मू.), मलयगिरि (व्या.), पंडित श्रावक हीरालाल हंसराज, जामनगर, 1910
- लब्धिसार, नेमिचन्द्र सिद्धान्तचक्रवर्ती (मू.), सम्यग्ज्ञानचन्द्रिका व्याख्या (व्याख्याकार अज्ञात), टोडरमल (व्या.), फूलचन्द सिद्धान्तशास्त्री (सं.), श्री परम श्रुत प्रभावक मण्डल, श्रीमद् राजचन्द्र आश्रम, अगास, 2013
- वाचस्पत्यम्, तारानाथ भट्टाचार्य, चौखम्बा संस्कृत सीरीज ऑफिस, वाराणसी, 1970
- षट्खण्डागम (धवला टीका समन्वित सोलह पुस्तकें), आचार्य पुष्पदन्त भूतबली (मू.), वीरसेनाचार्य (व्या.), डॉ. हीरालाल जैन (सं.), पं. फूलचन्द सिद्धांतशास्त्री, पं. बालचन्द्र सिद्धान्तशास्त्री (सह सं.), जैन संस्कृति संरक्षक संघ, सोलापुर, 2000
- षट्खण्डागम परिशीलन, पण्डित बालचन्द्र शास्त्री, भारतीय ज्ञानपीठ, नई दिल्ली, 1999
- सत्कर्मपंजिका, (मूल ग्रंथकार अज्ञात), डॉ. हीरालाल जैन (सं.), पं. फूलचन्द सिद्धांतशास्त्री, पं. बालचन्द्र सिद्धान्तशास्त्री (सह सं.), मुनि प्रणम्यसागर (अनु.), जैन संस्कृति संरक्षक संघ, सोलापुर, 2012

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

◆ सर्वार्थसिद्धि (तत्त्वार्थसूत्र की टीका), उमास्वामी – आचार्य (मू.), पूज्यपादाचार्य (व्या.), सिद्धान्ताचार्य फूलचन्द (सं.) (अनु.), भारतीय ज्ञानपीठ, दिल्ली, 2013

अंतर्जालीय स्रोत :

www.jainkosh.org, www.jainelibrary.org, www.jainqq.org

पाद-सन्दर्भ

1. तत्त्वार्थवार्तिक, अध्याय 1, सूत्र 1, वार्तिक 1, वृत्ति
2. कसायपाहुड, गाथा 113, पुस्तक 13, पृष्ठ 9
3. जयधवला, पुस्तक 13, गाथा 111 व टीका
4. धवला पुस्तक 6, पृष्ठ 247–266
5. लब्धिसार, गाथा 112
6. लब्धिसार, गाथा 117
7. लब्धिसार, गाथा 110, टीका
8. षट्खण्डागम सूत्र, पुस्तक 6, पृष्ठ 243
9. षट्वंडागम सूत्र, पुस्तक 6, पृष्ठ 243–246
10. जयधवला पुस्तक 13, पृष्ठ 2 (हर्ष जैन शास्त्री, फुटेरा द्वारा अवगत प्रमाण)
11. गोम्मटसार कर्मकाण्ड, गाथा 93, जीवतत्त्वप्रदीपिका
12. लब्धिसार, गाथा 110, संस्कृत टीका
13. वाचस्पत्यम्, पंचम भाग, पृष्ठ 4303
14. पादमूल का कोई अन्य विशेष अर्थ कहीं देखने में आया हो, तो अवगत कराएँ
15. लब्धिसार, गाथा 110 में भी धवला के समान ही उल्लेख है।
16. लब्धिसार, गाथा 111, संस्कृत टीका करें
17. धवला पुस्तक 6, पृष्ठ 247 पर कृतकृत्यवेदक होने के बाद से निष्ठापक होना कहा है। इसमें कोई विरोध प्रतीत नहीं होता। निष्ठापक का अर्थ पूर्ण करने वाला है। यह पूर्णता का प्रारंभ लब्धिसार की टीका में संक्रमण के बाद से कहा है और धवलाकार ने अनिवृत्तिकरण के बाद से। क्योंकि प्रक्रिया समान ही है, नाम से कोई अंतर नहीं पड़ता, अतः वक्ता के अभिप्राय अनुसार दोनों ही कथनों में कोई समस्या नहीं है।
18. लब्धिसार, गाथा 145, संस्कृत टीका
19. लब्धिसार, गाथा 145, संस्कृत टीका
20. कसायपाहुड़, गाथा 110, पुस्तक 13, पृष्ठ 2
21. लब्धिसार, गाथा 111
22. सर्वार्थसिद्धि, अध्याय 1, सूत्र 7 टीका
23. सर्वार्थसिद्धि, टीका, अध्याय 1, सूत्र 7, टीका
24. सर्वार्थसिद्धि, अध्याय 2, सूत्र 52, वृत्ति
25. गोम्मटसार जीवकाण्ड, गाथा 271, जीवतत्त्वप्रदीपिका

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

26. सर्वार्थसिद्धि के परिशिष्ट 2 में समाहित तत्त्वार्थवृत्तिपद, पद क्रमांक 17.4, पृष्ठ 390
27. यह तथा 'क्षायिकं पुनर्भाववेदेनैव' ये दोनों वाक्य कुछ हस्तलिखित प्रतियों में मूल टीका के अंश रूप में समाहित हैं, व कुछ में नहीं हैं। इसका संकेत पंडित फूलचंद जी 'सिद्धान्तशास्त्री' ने सर्वार्थसिद्धि के प्रारम्भ में 'दो शब्द' शीर्षक के अंतर्गत पृष्ठ 10 पर दिया है। पंडितजी इन्हें अनावश्यक होने से मूल टीका का अंग नहीं मानते, क्योंकि आगम में मानुषी का भावस्त्री के अर्थ में ही प्रयोग अभीष्ट है। जो भी हो, ये दोनों ही कथन आगम परंपरा के अनुकूल हैं और प्रकृत विषय के समाधान में उपयोगी हैं।
28. सर्वार्थसिद्धि, पृष्ठ 19
29. सर्वार्थसिद्धि में प्रारंभ में 'दो शब्द' शीर्षक के अंतर्गत लिखित, पृष्ठ 10
30. तत्त्वार्थवृत्ति, अध्याय 1, सूत्र 7, पृष्ठ 10
31. धवला, पुस्तक 1, पृष्ठ 132
32. तत्त्वार्थराजवार्तिक, अध्याय 9, सूत्र 7, वार्तिक 11 की वृत्ति
33. सर्वार्थसिद्धि, अध्याय 10, सूत्र 9, वृत्ति, पृष्ठ 374
34. सत्कर्मपंजिका, पृष्ठ 211
35. गोम्मटसार कर्मकाण्ड, गाथा 268, 269, 271
36. गोम्मटसार कर्मकाण्ड, गाथा 329, टीका
37. जयधवला पुस्तक 13, गाथा 113 व टीका
38. गोम्मटसार कर्मकाण्ड, गाथा 288, 302
39. सत्कर्मपंजिका के संबंध में विशेष जानने के लिए जैन साहित्य का इतिहास भाग 2, पृष्ठ 284-292 देखें
40. षट्खण्डागम परिशीलन, पृष्ठ 565
41. उदयस्वामित्वम्, गाथा 70
42. पंचसंग्रहटीका, चौथा भाग, पृष्ठ 1165 (यह प्रमाण उदयस्वामित्वम् के पृष्ठ 138 के फुटनोट से प्राप्त हुआ व श्रीमती मंजू नाहटा जी द्वारा मूल ग्रन्थ में खोजकर उपलब्ध कराया गया।)

❖❖

अपरिग्रह

सायंतनं श्वस्तनं वा न संगृह्णीत भिक्षुकः। मक्षिका इव संगृह्णन् सह तेन विनश्यति॥
परिग्रहो हि दुःखाय यद्यत् प्रियतमं नृणाम्। अनन्तं सुखमाप्नोति तद्विद्वान् यस्त्वकिञ्चनः॥

—भागवत 11/9/1

यति को सायं या कल के लिए भी संग्रह करना नहीं चाहिए, पाणिपात्र या उदरमात्र ही ग्रहण करना चाहिए; अन्यथा वह मधुमक्खी की तरह संगृहीत वस्तु के साथ ही नष्ट हो जाएगा। परिग्रह दुःख का ही कारण है, अनंत सुख तो अपरिग्रही को ही मिलता है।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

भगवान महावीर के सिद्धान्तों की प्रासंगिकता

—डॉ. शुद्धात्मप्रकाश जैन*

भूमिका— भगवान महावीर जैनधर्म के अंतिम एवं चौबीसवें तीर्थंकर हैं। उनका जन्म ईसा से 599 वर्ष पूर्व एवं निर्वाण ईसा से 527 वर्ष पूर्व हुआ था। आज उनके निर्वाण हुए भी 2549 वर्ष व्यतीत हो चुके हैं, तथापि उनके बताये हुए सिद्धांत एवं उपदेश आज भी उतने ही प्रासंगिक हैं, जितने उनके काल में थे। इतना ही, अपितु आज के हिंसामय वातावरण में महावीर की अहिंसा पहले से अधिक प्रासंगिक बन गई है। उनकी अहिंसा आज जितनी प्रासंगिक है, उतनी तो उनकी जमाने में भी नहीं थी।[1]

आज हम सब कोरोना महामारी के प्रभाव को देख चुके हैं। ऐसे में मरण से भयमीत न होने हेतु भगवान महावीर का उपदेश अत्यन्त उपयोगी है, उनका कहना है कि सब जीव अपनी आयु से जीवित रहते हैं, और आयु पूर्ण होने पर ही मरण को प्राप्त होते हैं, अतः जीवन-मरण किसी अन्य के अधीन नहीं हैं। अतः सावधानी अपनी जगह है और निश्चिन्तता अपनी जगह। उनकी वाणी को आचार्य कुन्दकुन्द 'समयसार' के बंधाधिकार में इसप्रकार अभिव्यक्त करते हैं—

आऊदयेण जीवदि, जीवो एवं भणंति सव्वण्हू।
आउं च ण देसि तुमं, कहं तए जीविदं कदं तेसिं॥
आऊदयेण जीवदि, जीवो एवं भणंति सव्वण्हू।
आउं च ण दिंति तुहं, कहं णु ते जीविदं कदं तेहिं॥[2]

युगानुरूप— आज के अत्यन्त वस्तुवादी और वैज्ञानिक युग में यह सिद्ध हो चुका है कि पानी की एक बूँद में हजारों जीव होते हैं और बिना छने जल के सेवन से अनेक बीमारियाँ हो जाती हैं, अतः पानी के छानने का विधान बताया गया है। वास्तव में यह बात भगवान महावीर ने पहले से बता दी थी। इसीप्रकार

---

*एसोसिएट प्रोफेसर, के. जे. सोमैया इंस्टीट्युट ऑफ धर्म स्टडीज, सोमैया विद्याविहार विश्वविद्यालय, मुम्बई-400083 मोबाईल : 9414448290

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri
न केवल अध्यात्म एवं अहिंसा की दृष्टि से, अपितु शारीरिक स्वास्थ्य की दृष्टि से भी विज्ञान कह रहा है कि रात्रिभोजन ठीक नहीं है। भगवान महावीर स्वामी ने भी रात्रिभोजन त्याग को एक जैनी का अनिवार्य लक्षण बताया है। जैनधर्म में चरणानुयोग के कुछ ग्रन्थों में तो इसे छठा अणुव्रत ही कह दिया है। पंचम गुणस्थान के अन्तर्गत ग्यारह प्रतिमाओं में से एक प्रतिमा का नाम भी रात्रिभुक्तित्याग प्रतिमा है।[3] यदि सभी नागरिक रात्रिभोजन का त्याग कर दें तो आज रोगापचार हेतु मेडिसन और औषधियों के निर्माण में होने वाला लगभग सम्पूर्ण अपव्यय रोका जा सकता है। भगवान महावीर द्वारा बताई गई जीवनशैली और मूल्यों को अपनाकर सम्पूर्ण अपराध, अन्याय और भ्रष्टाचार का निवारण किया जा सकता है और उसकी रोकथाम हेतु होने वाले बहुत धन की बचत आसानी से की जा सकती है।

प्रायोगिक दर्शन– आधुनिक विज्ञान भी जैन जीवन शैली के पंचाणुव्रतों का समर्थन करता है पर आज हमने आज उन व्रतों को तो पकड़ लिया और उनके अतीचारों को भुला दिया जिससे एक नई समस्या खड़ी हो गई है कि ये व्रतादि हमें प्रतिबन्धों जैसे प्रतीत होने लगे हैं। इसी को स्पष्ट करता हुआ यह दृष्टान्त पठनीय है–

एक बार एक व्यक्ति ने किसी महान् संत से प्रश्न किया– "हे गुरुवर्य! भगवान महावीर ने अपनी देशना में अहिंसा के पालन का उपदेश दिया है, जबकि मैं मच्छरों के काटने से मलेरिया से मरने जा रहा हूँ। ऐसे में मुझे मच्छरों को मार देना चाहिए या खुद मर जाना चाहिए।" संत का प्रत्युत्तर था– "हे भव्य! यदि तुमने भगवान महावीर की देशना को ठीक ढंग से समझा होता तो आज ये दोनों ही परिस्थितियाँ उत्पन्न नहीं होती, क्योंकि उन्होंने कहा था कि अनावश्यक परिग्रह का संग्रह मत करो। सदाचार और संयम से रहो। घर में व्यर्थ कूड़ा-कचरा और अनावश्यक परिग्रह रखने से मक्खी-मच्छर तो उत्पन्न होंगे ही।" उक्त दृष्टान्त से यह तो स्पष्ट ही है कि जितनी भी बाह्य समस्याएँ देखी जाती हैं, वे सब कुसंस्कारों से ही उत्पन्न होती हैं। संस्कारों का पालन करके हम सब अनेक बीमारियों आदि अनेक समस्याओं से बच सकते हैं, अतः स्वयंसिद्ध है कि संस्कारों के महत्त्व को हम कदापि नकार नहीं सकते।

इससे यह भी सिद्ध होता है कि भगवान महावीर द्वारा बताये गये व्रत एवं नियम परस्पर एक दूसरे के पूरक हैं और वे एक-दूसरे से घनिष्ठ सम्बन्धित हैं। उक्त दृष्टान्त में अहिंसा और अपरिग्रह परस्पर एक-दूसरे के पूरक बताये गये हैं। जब तक हम जैनदर्शन के सभी सिद्धान्तों को जीवन में पूरी तरह नहीं उतारेंगे

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

तो कहीं न कहीं अतीचार (दोष) लगने की संभावना रहेगी ही। समस्या तब होती है जब हम भगवान महावीर के सिद्धान्तों को ठीक से नहीं स्वीकार करते हैं।

विज्ञानपरक– आज प्रदूषण की काली कालिमा के तले पर्यावरण की मधुर लालिमा का विनाश होते हुए इस युग में भगवान महावीर के संदेश से ही पर्यावरण की सुरक्षा संभव है। तत्त्वार्थसूत्र में कहा है– **पृथ्व्यप्तेजोवायुवनस्पतयः।**[4] अर्थात् पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु और वनस्पति में जीव होते हैं, अतः उनकी रक्षा करनी चाहिए। डॉ. जगदीशचन्द्र वसु ने तो आज सिद्ध किया, किन्तु भगवान महावीर ने तो हजारों वर्ष पूर्व ही कह दिया कि इनमें जीव हैं। डॉ. जगदीशचन्द्र वसु को वनस्पति में जीवत्व सिद्धि की प्रेरणा जैन पंडित श्री गोपालदास बरैया से प्राप्त हुई, जब डॉ. वसु ने उनकी कक्षा में सुना कि पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु और वनस्पति में भी जीवन होता है। इसी प्रकार आहार, विहार, नीहार आदि सम्पूर्ण जैनजीवन शैली आज वैज्ञानिक सिद्ध हो चुकी है।[5] आज जब विज्ञान बोलता है तो सब सुनते हैं। विज्ञान की मुहर लग जाने पर धर्म को भी लोग प्रामाणिक मानते हैं, लेकिन वास्तव में विज्ञान वही सिद्ध कर रहा है जो भगवान महावीर पहले ही कह चुके हैं। परमाणु की शक्ति का वर्णन तत्त्वार्थसूत्र (पंचमाध्याय) और भगवती सूत्र में पहले से बता दिया गया है।

प्रासंगिक– एक जापानी वैज्ञानिक योशिनारी को ऑटोफैगी के लिए नोबेल पुरस्कार प्रदान किया गया। यह ऑटोफैगी और कुछ नहीं, जैनधर्म में बताया गया अनशन तप ही है। योशिनोरी ने सिद्ध कर दिया कि अनशनादि द्वारा हमारे शरीर में कैंसर जैसी भयानक रोगों से ग्रसित कोशिकाएँ स्वयमेव नष्ट हो जाती हैं।[6] वास्तव मे भगवान महावीर के सिद्धांत सदा से प्रासंगिक हैं और सदा बने रहेंगे। ये देश-काल और परिस्थितियों से परे कालजयी सिद्धांत हैं, अतः महावीर कभी 'आउट ऑफ डेट' नहीं हुए, सदा 'अप-टु-डेट' ही बने हुए हैं। यही कारण है कि आज महावीर के संदेशों के प्रसार हेतु अमेरिका के लगभग 40 विश्वविद्यालयों में जैनधर्म चल रहा है। विश्वयुद्ध जैसी परिस्थितियों में सबको पता है कि विश्व में शांति की स्थापना भी भगवान महावीर के संदेशों से ही हो सकती है। जैन पाठशाला के श्री प्रवीण के. शाह का कहना है कि आज अमेरिका में लगभग 40,000 पाठशालायें चल रही हैं, जो जैनधर्म का संदेश विश्व को दे रही हैं। वास्तव में विश्वशांति का मूल है–वीतराग-विज्ञान।[7]

राष्ट्रीयता– भगवान महावीर का दर्शन राष्ट्रीय भावना की प्रेरणा भी भरपूर देता है। जैन साहित्य में राष्ट्र-शान्ति की कामना के लिए शान्तिपाठ पाये जाते हैं और उनका उच्चारण प्रातःकालीन जिनाभिषेक के अवसर पर किया जाता है।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri
कानून की दृष्टि से यह दर्शन न केवल मानवाधिकारों की बात करता है, अपितु जीवमात्र के अधिकारों की बात करता है। जैनकला, स्थापत्य, साहित्य, संस्कृति, योग, अध्यात्म, पर्यावरणरक्षा, विश्वशान्ति आदि लगभग सभी क्षेत्रों में भगवान महावीर ने जो दिशा दी है, वह आज भी उतनी ही प्रासंगिक है, जितनी पहले थी। महावीर के सिद्धातों द्वारा ही अहिंसा, सत्य, संयम, तप, त्याग, क्षमा, सहिष्णुता आदि अनेक उच्च कोटि के जीवनमूल्यों का विकास संभव है।

भगवान महावीर की पूर्व परम्परा में प्रथम तीर्थंकर ऋषभदेव के पुत्र भरत के नाम से ही हमारे देश का 'भारतवर्ष' नामकरण हुआ, जो आज तक प्रचलित है। समन्तभद्राचार्य के स्वयंभूस्तोत्र के 12वें छंद में प्रयुक्त समवशरण के पर्यायवाची शब्द 'संसद' के नाम से भारतीय विधानसभा का नामकरण किया गया है। जिसप्रकार समवशरण में जन्मजात शत्रु भी शत्रुता का त्यागकर धर्म का श्रवण करते हैं, उसी प्रकार संसद में भी परस्पर विरोधी दल वैमनस्य मिटाकर समन्वयपूर्वक देशहित का चिन्तन करें। भगवान महावीर ने वैशाली गणराज्य में प्रजातंत्र का सर्वप्रथम प्रयोग किया था, जो आज भी प्रचलित है। इसे रामधारीसिंह दिनकर ने कविता में लिखा है–

वैशाली जन का प्रतिपालक, गण का आदि विधाता।
जिसे ढूँढ़ता आज देश, उस प्रजातंत्र की माता॥[8]

भगवान महावीर ने जिस अनेकान्तवाद की शिक्षा दी, वह आज हमें विविध दर्शनों और जीवन के हर क्षेत्र में देखने को मिलता है, चाइना दर्शन के अन्तर्गत 'यिन-यांग' थ्योरी और कुछ नहीं, अनेकान्तवाद ही है, जो यह कहती है कि सकारात्मक और नकारात्मक शक्ति एक ही सिक्के दो पहलू हैं और एक ही वस्तु में अविरोध रूप से युगपत् पाई जाती है। हर्मन जैकोबी ने कहा है– "जैनधर्म एक मौलिक पद्धति है जो सभी धर्मों से नितान्त भिन्न और स्वतंत्र है और इसलिए प्राचीन भारत के दार्शनिक विचार एवं धार्मिक जीवन के अध्ययन के लिए इसका अत्यन्त महत्त्व है।"[9] मुम्बई के सुप्रसिद्ध दर्शनशास्त्री मुजफ्फर हुसैन ने कहा कि– जैनधर्म 21वीं शताब्दी का धर्म सिद्ध होगा।[10]

पूरे विश्व में केवल भगवान महावीर ही ऐसे महापुरुष हुए हैं जिन्होंने कहा है कि मेरी पूजा मत करना, मुझसे कोई उम्मीद मत रखना कि मैं कोई चमत्कार करूँगा। सुख-दुख तुमने ही पैदा किये है, इसलिए इन्हें भोगना तुम्हारा काम है, मैं तो सिर्फ आपको मार्ग प्रदर्शित कर सकता हूँ, क्योंकि इसी मार्ग पर मैं भी चला हूँ। इस मार्ग पर चलना और ना चलना तुम्हारे ऊपर है, मैं मार्गदाता हूँ, मोक्षदाता नहीं। भगवान महावीर कहते हैं कि तू मुझे क्यों देखता है, मैं भी जिसे

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

देखता हूँ, ऐसे अपने भगवान आत्मा को ही देख ना। उसी से तेरा कल्याण होगा। उनके अनुसार भक्त और भगवान में अन्तर नहीं है, एक दिन भक्त भी भगवान बन सकता है। कहा भी है– **''अप्पा सो परमप्पा''** आत्मा ही परमात्मा है।

उपसंहार– निष्कर्ष यह है कि भगवान महावीर के सिद्धान्त जितने प्रासंगिक पूर्व में थे, उतने ही या उससे अधिक आज भी हैं। वे कभी न बदलने वाले कालजयी सिद्धान्त हैं और न केवल वे आध्यात्मिक हैं, अपितु सर्वजनहितकारी भी हैं। महावीर स्वामी के सिद्धान्त सार्वजनिक, सार्वभौमिक, सार्वकालिक और सर्वोदयी भी हैं। आज भले ही हम मानवाधिकारों की बात करते हों, लेकिन भगवान महावीर ने प्राणी अथवा जीव मात्र के अधिकार (जीवाधिकार) की बात कही है। भगवान महावीर ने कहा– आचरण में अहिंसा, विचारों में अनेकान्त, वाणी में स्याद्वाद और जीवन में अपरिग्रह की भूमिका सदा से है, सदा है और सदा रहेगी। उनके सिद्धान्तों को अपनाकर हर कोई अनेक रोगों एवं कष्टों से बच सकता है। उनके सिद्धान्त अत्यन्त व्यावहारिक, प्रायोगिक, विज्ञानसम्मत, युगानुरूप और प्रासंगिक हैं।

इसप्रकार भगवान महावीर के सिद्धान्तों को अपनाकर हम सुख, शांति, समृद्धि प्राप्त कर सकते हैं और पर्यावरण, जलसंकट सम्बन्धी देश एवं समाज की अनेक युगीन समस्याओं का समाधान भी कर सकते हैं। उनके सिद्धान्तों के आधार पर परस्पर सहयोग, सद्भावना, सहिष्णुता आदि गुणों का विकास कर विश्वशांति की स्थापना की जा सकती है।

सन्दर्भ-सूची

1. अहिंसा : महावीर की दृष्टि में, डॉ. हुकमचन्द भारिल्ल, टोडरमल स्मारक, जयपुर
2. समयसार, आचार्य कुन्दकुन्द, गाथा 251-252, कुन्दकुन्द भारती, नई दिल्ली
3. गुणस्थान-विवेचन, ब्र. यशपाल जैन, पंचम गुणस्थान, टोडरमल स्मारक, जयपुर
4. तत्त्वार्थसूत्र, आचार्य उमास्वामी, वीर मंदिर, जयपुर, अध्याय 2, सूत्र 9
5. जैनधर्म और पर्यावरण, प्रो. राजाराम जैन, भारतीय ज्ञानपीठ, नई दिल्ली
6. https://www.aajtak.in/world/story/nobel-prize-in-medicine-awarded-to-japans-yoshinori-ohsumi-384850-2016-10-03
7. छहढाला, 1/1, पं. दौलतराम, पं. टोडरमल स्मारक ट्रस्ट, जयपुर
8. इतिहास के आंसू, रामधारी सिंह दिनकर, आह्वान कविता, अजन्ता प्रेस, पटना
9. स्टडीज इन जैनिज्म, हर्मन जैकोबी, पृष्ठ 60, जैन साहित्य संशोधन कार्यालय, अहमदाबाद, 1946
10. जिनभाषित पत्रिका, सितम्बर 2010 के अंक में प्रकाशित मुजफ्फर हुसैन का लेख

❖❖

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

जैनदर्शन के परिप्रेक्ष्य में 'समाचार' एवं 'पत्रकारिता'

—डॉ. अंकुर जैन*

पत्रकारिता को लोकतंत्र का चौथा स्तंभ कहा जाता है। किसी भी समृद्ध, विकसित राष्ट्र का पैमाना वहाँ के मीडिया अथवा पत्रकारिता-जगत को मिली अभिव्यक्ति की आजादी, जिम्मेदारीपूर्ण रवैया एवं लोकहितपूर्ण दृष्टिकोण से तय होता है। पत्रकारिता आज मीडिया के अर्थ में रूढ़ हो गई है। इस मीडिया शब्द का हिन्दी अनुवाद माध्यम का बहुवचन 'माध्यमों' होता है। पत्रकारिता चूंकि जनता और शासन के बीच का एक सशक्त माध्यम है, इसीलिये मीडिया शब्द पत्रकारिता के अर्थ में इतना प्रचलित बन पड़ा है। हालांकि वर्तमान में मीडिया में भी धनबल, पदबल का बाहुल्य देखने को मिलने लगा है, किंतु यह हमेशा से एक प्रतिष्ठित उद्यम रहा है। पुराने समय में पत्रकारों ने समाचार-माध्यमों का प्रयोग एक मिशन के रूप में किया, न कि प्रोफेशन के रूप में।

महात्मा गांधी कहते थे– "पत्रकारिता कभी भी निजी हित या आजीविका कमाने का जरिया नहीं बनना चाहिए, पत्रकारिता का एकमात्र उद्देश्य सेवा होना चाहिए। अखबारी प्रेस एक महान शक्ति है, लेकिन जिस तरह पानी का अनियंत्रित प्रवाह पूरे देश को जलमग्न कर देता है और फसलों को तबाह कर देता है, ठीक उसी तरह एक अनियंत्रित कलम भी सेवा के बजाय तबाह करने का कार्य करता है।" प्रसिद्ध पत्रकार, लेखक व कवि माखनलाल चतुर्वेदी ने समाचारपत्रों के संदर्भ में कहा था कि "समाचारपत्र संसार की सबसे बड़ी ताकत है, लेकिन इनके सर पर जोखिम भी कम नहीं है।"

पत्रकारिता के इस महत्त्व को समझते हुये, इसके प्रमुख आधार, जिसे अंग्रेजी में न्यूज एवं हिन्दी में समाचार कहते हैं, के लिये हमने बहुत ही पवित्र शब्द 'समाचार' का प्रयोग किया। समाचार शब्द संस्कृत का है। यह सम्+आ+चर+ घञ् (दो उपसर्गों, एक धातु एवं एक प्रत्यय) से बनता है। इसका व्युत्पत्तिलभ्य अर्थ होगा– सम्यक् आचरण करना या व्यवहार करना। संस्कृत का सम् उपसर्ग सम्यक् तथा

*आलेख संपादक, डीडी न्यूज मप्र, भोपाल 9893408494, ankurjain.ansh@gmail.com

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

आङ् (आ) उपसर्ग चारों तरफ या भली-भाँति अर्थ देता है। चर धातु का अर्थ है– व्यवहार करना। सम्यक् आचरण अर्थात् सभी तरह से निष्पक्ष आचरण इस शब्द का मूल अर्थ हुआ। आज समाचार का जो अर्थ है उसमें यह अर्थ अन्तर्भूत है। ऐसी सूचना जो अच्छी तरह से सोच-समझ और भली-भाँति जाँच परख कर दी गयी हो, समाचार कहलायेगी और यही पत्रकारिता का प्रमुख आधार है। वास्तव में समाचार एकत्र करने और प्रदान करने का कार्य या व्यवसाय ही पत्रकारिता है।

जब पत्रकारिता का कार्य इतना गंभीर है तो इसे हमारी प्राचीन ज्ञान परंपरा से समझने की जरूरत है। प्रस्तुत आलेख में हम जैनदर्शन के परिप्रेक्ष्य में समाचार एवं पत्रकारिता को समझने का प्रयास कर रहे हैं तथा ये जान रहे हैं कि जैनाचार्यों के वे कौन से सिद्धांत है जो पत्रकारिता एवं समाचारों की गरिमा एवं निष्ठा को अधिक उपयोगी बना सकते हैं अथवा एक संचारक के लिये किन गुणों की अनिवार्यता की बात जैन दार्शनिकों द्वारा की गई है।

इससे पहले हम जैन विद्वानों के पत्रकारीय दृष्टिकोण को समझें, हम यह जान लेते हैं कि पत्रकारिता के कौन से सिद्धांतों की चर्चा मौजूदा दौर में की जाती है। पत्रकारिता के 5 मूल सिद्धांत जिनकी अंतरराष्ट्रीय स्तर पर चर्चा होती है, वे हैं– सत्य, स्वतंत्रता, हर पक्ष का समावेश पर निष्पक्षता, मानवता, जवाबदेही। इन सिद्धांतों को Veritas Vos liberabit (the truth shall set you free) Independent Voice, Two sides of a coin, Humanness, Accountability के नाम से जाना जाता है।

चूंकि एक पत्रकार, जो संचार कर रहा है वो व्यक्तिनिष्ठ नहीं है बल्कि वस्तुनिष्ठ है और उसकी बात कई लोगों तक जा रही है, अतः पत्रकार की संचार कला अधिक जिम्मेदार, लोकोपयोगी एवं बहुजन हिताय-बहुजन सुखाय की भावना लिये होना चाहिये, तथा इसका उद्देश्य 'समाचार' अर्थात् सम्यक् आचरण का प्रसार होना चाहिये।

समाचार, इतना पवित्र शब्द है कि जैनाचार्यों ने इस शब्द का प्रयोग मुनिराजों के आचरण के लिये किया तथा उनके नीतिशास्त्र को इस शब्द के माध्यम से निर्देशित किया। आचार्य वट्टकेर अपने ग्रन्थ मूलाचार में लिखते हैं–

समदा समाचारो सम्माचारो समो व आचारो।
सव्वेसिं हि समाणं समाचारो दु आचारो॥

अर्थात्– समता भाव समाचार है, अथवा सम्यक् अर्थात् अतिचार रहित जो

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0 In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri
मूलगुणों का आचरण, अथवा समस्त मुनियों का समान अहिंसादिरूप जो आचरण, अथवा सर्व क्षेत्रों में हानिवृद्धि रहित कायोत्सर्गादिकर सदृश परिणामरूप आचरण वह समाचार है।

यहाँ समताभाव को समाचार कहा है, अर्थात् किसी भी प्रकार के अनुराग एवं द्वेष, पक्षपात से रहित होकर बिना किसी दोष के आचरण करना समाचार है। हमने देखा है कि किसी भी जिम्मेदार पद पर आसीन होने वाला व्यक्ति यह शपथ लेता है कि वह अनुराग व द्वेष तथा पक्षपात से रहित होकर अपने कर्त्तव्यों का सम्यक् रीति से निर्वहन करेगा। यह उस व्यक्ति के समाचार का ही द्योतक है। पत्रकारिता में समाचार भी इसी भावना के प्रसार के हेतु हैं।

एक पत्रकार के क्या दायित्व होने चाहिये जिससे वह जिम्मेदारीपूर्ण ढंग से अपने कार्य का निर्वहन कर सके और उसे कुशल संचारक बना सके। इसके संबंध में जैन आचार्य गुणभद्र अपने ग्रन्थ आत्मानुशासन में लिखते हैं–

प्राज्ञः प्राप्तसमस्तशास्त्रहृदयः प्रव्यक्तलोकस्थितिः,
प्रास्ताशः प्रतिभापरः प्रशमवान् प्रागेव दृष्टोत्तरः।
प्रायः प्रश्नसहः प्रभुः परमनोहारी परानिंदया,
ब्रूयाद्धर्मकथां गणी गुणनिधिः प्रस्पष्टमिष्टाक्षरः॥

अर्थात्– जो प्राज्ञ या विद्यावान है, समस्त शास्त्रों के रहस्य को प्राप्त है, लोकव्यवहार से परिचित है, समस्त आशाओं से रहित निःस्पृह है, प्रतिभाशाली है, शांत है, प्रश्न होने से पूर्व ही उसका उत्तर जान चुका है, श्रोता के प्रश्नों को वहन करने में समर्थ है या पाठक अथवा श्रोता के मंतव्य को जानकर उसकी जिज्ञासाओं/प्रश्नों का समाधान देने वाला हो, दूसरों के मन को हरने वाला हो, अनेक गुणों का स्थान है, ऐसा आचार्य दूसरों की निंदा न करके स्पष्ट एवं मधुर शब्दों में धर्मोपदेश देने का अधिकारी होता है।

इस श्लोक में हमें वक्ता या कहें कि समाचार-प्रदाता के गुणों के दर्शन होते हैं, उसके जिम्मेदार रवैये की झलक मिलती है। श्लोक के अंत में धर्मोपदेश देने का अधिकारी लिखा है। वास्तव में समाचार किसी धर्मोपदेश से कम नहीं है, धर्म की वृद्धि और अधर्म का नाश– यह समाचारों का दायित्व है। यहाँ धर्म से आशय कोरे क्रिया-कांड अथवा पूजा-पद्धति नहीं, बल्कि मानवीय एवं आत्मिक गुणों की अभिवृद्धि ही धर्म है।

इसके साथ ही एक पत्रकार अथवा समाचार-प्रदाता को अपने लेखन अथवा प्रस्तुतीकरण में अध्ययन, अवलोकन, युक्ति एवं अनुभव का समावेश भी करना

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

चाहिये। स्वयं विविध चीजों को अनेक माध्यमों से पढ़कर समझें, विद्वत्जनों के या गुरुजनों के परामर्श व अभिमतों को जाने जिससे योग्य परंपरा ही आगे बढ़े, तर्क की कसौटी पर अपने प्रस्तुतीकरण को परखे तथा स्वयं अपने लिखे अथवा कहे हुये को अनुभव के धरातल पर जाने, तभी एक कुशल संचार संभव है।

जैन आध्यात्मिक ग्रन्थ जिसे परमागम की संज्ञा प्राप्त है ऐसे समयसार में आचार्य कुन्दकुन्द अपने संपूर्ण निजवैभव से अभिधेय विषय का प्रतिपादन करने का संकल्प लेते हैं, उनके निजवैभव की व्याख्या करते हुये समयसार ग्रन्थ के टीकाकार भी इन्हीं चार बातों को प्रमुखता देते हैं। वे निजवैभव में आगम का अभ्यास, परापर गुरुओं का उपदेश, युक्ति का अवलंबन और स्वानुभव– इन चार बातों का समावेश करते हैं तथा उपदेश को सुनने वालों से अपने अनुभव से इस प्रतिपादन को प्रमाण करने का तथा किसी भी तरह का छल या मिथ्या अर्थ ग्रहण न करने का आग्रह करते हैं। इस संकल्प में वक्ता का अध्ययन, कृतज्ञता-बोध, युक्तिसंगतता, अनुभव एवं विनम्रता जैसे गुणों के दर्शन होते हैं। ये गुण यदि पत्रकार में भी हों तो यह पत्रकारिता को प्रभावी, जनोपयोगी एवं जिम्मेदार बनाने में बड़ी भूमिका निभा सकता है।

इसी तरह पत्रकारिता में टारगेट ऑडियंस का महत्त्व काफी ज्यादा होता है मतलब आपका लक्षित पाठक या दर्शक वर्ग के हिसाब से प्रस्तुतीकरण किया जाये। इस विषय में कुरल काव्य नामक जैन ग्रन्थ में आचार्य, वक्ता का दायित्व निभाने वाले को उपदेश देते हैं कि–

भो भो शब्दार्थवेत्तारः शास्तारः पुण्यमानसाः।
श्रोतृणां हृदयं बीक्ष्य तदर्हां ब्रूत भारतीम्॥
विद्वदगोष्टयां निजज्ञानं यो हि व्याख्यातुमक्षमः।
तस्य निस्सारतां याति पांडित्यं सर्वतोमुखम्॥

ऐ शब्दों का मूल जानने वाले पवित्र पुरुषों! पहले अपने श्रोताओं की मानसिक स्थिति को समझ लो और फिर उपस्थित जनसमूह की अवस्था के अनुसार अपनी वक्तृता देना आरंभ करो। जो लोग विद्वानों की सभा में अपने सिद्धांत श्रोताओं के हृदय में नहीं बैठा सकते उनका अध्ययन चाहे कितना भी विस्तृत हो, फिर भी वह निरुपयोगी ही है।

उक्त कथन में हमें लक्षित पाठक/दर्शक वर्ग की अभिरुचियों, ज्ञानात्मक स्तर एवं परिस्थिति के अनुरूप उपदेश देने की सीख मिलती है। यह शिक्षा पत्रकारिता के पेशे के लिये भी काफी जरूरी है। इसी तरह पत्रकार को विविध पक्षों को

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

ध्यान में रखकर निष्पक्षता के साथ अपनी बात रखना चाहिये। वास्तव में निष्पक्षता में सत्य का पक्ष स्वतः गर्भित होता है। इस समीचीनता को बनाये रखने में जैनधर्म का अनेकांतवाद या स्याद्वाद का सिद्धांत बहुत उपयोगी एवं सर्वजनकल्याणकारी है।

वस्तुतः, जगत में दो ही वाद हो सकते हैं– एक अनेकांतवाद और दूसरा आतंकवाद। जहाँ अपने पूर्वाग्रहों या दुराग्रहों का इतना जोर हो कि हम अन्य पक्ष को समझना ही न चाहें– ऐसी पत्रकारिता सदैव निरंकुशता, वैमनस्य एवं विसंगतियों को ही बढ़ावा देगी। अनेकांतवाद का जैन सिद्धांत वह दृष्टिकोण देता है जिससे हम विविध पक्षों को समझकर निष्पक्षता के साथ अपने प्रयोजन की सिद्धि कर सकें, यह भी पत्रकारिता का मुख्य ध्येय है।

इस तरह हम देखते हैं कि पत्रकारिता के जिन मूल सिद्धांतों की चर्चा अंतरराष्ट्रीय स्तर पर की जाती है– ऐसे सत्यता, निष्पक्षता, स्वतंत्रता, मानवता और जवाबदेही जैसे सिद्धांत जैन आचार्यों ने तो प्रदान किये ही हैं, इन्हें समाविष्ट करते हुए कई अन्य आवश्यक पत्रकारीय गुणों का प्रस्तुतीकरण भी उन्होंने अपने उपदेश में दिया है जिससे समाचार अथवा सम्यक् आचरण का योग्य प्रसार हो सके और उससे एक संवेदनशील, सहिष्णु, जिम्मेदार समाज का निर्माण हो सके।

संक्षेप में यहाँ कुछेक बिन्दुओं के माध्यम से पत्रकारिता पर जैन आचार्यों का दृष्टिकोण बताने का प्रयास किया है, वास्तव में तो जैन विद्वानों, दार्शनिकों के व्यापक साहित्यिक अवदान का जब हम अवलोकन करेंगे तो इनमें हमें कई ऐसे आवश्यक मूल्यों के दर्शन होंगे जो कि पत्रकारिता को, लोकतंत्र को, समाज को और व्यक्तिविशेष को अधिक उन्नत बना सकते हैं।

अतः समाजोपयोगी विभिन्न विषयों एवं पहलुओं को जैन आचार्यों के दृष्टिकोण से समझने की बेहद आवश्यकता है। पत्रकारिता भी इन विषयों में से एक है।

❖❖

आत्मप्रशंसा हेय है

बुधाग्रे न गुणान् ब्रूयात् साधु वेत्ति यतः स्वयम्।
मूर्खाग्रेऽपि च न ब्रूयात् बुधप्रोक्तं न वेत्ति सः॥

अर्थ– ज्ञानी हो या अज्ञानी –किसी को भी अपने गुण सुनाने की आवश्यकता नहीं है, क्योंकि ज्ञानी स्वयं जान जाता है और अज्ञानी कहने पर भी नहीं जान पाता है। आत्मप्रशंसा हेय है। —भोजप्रबन्ध, 128

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

नागकुमारचरित्रम् में वर्णित श्रावकधर्म

—ईर्या जैन*

सारांश– कल्याणकारी उत्कृष्ट देशना ही धर्मोपदेश है। जो उपदेश संसार-समुद्र के किनारे से पार करावे, वस्तु के स्वरूप से परिचित करावे वाला वही जीव को हितकारी है। संस्कृत-पाण्डुलिपि 'नागकुमारचरित्रम्' में पण्डित धर्मधर ने आचार्यों, मुनिराजों, तीर्थंकर की वाणी के माध्यम से तत्त्वोपदेश की चर्चा की है। प्रस्तुत लेख में उसके प्रथम परिच्छेद के आधार से मुख्य रूप से अणुव्रत, गुणव्रत, शिक्षाव्रत रूप श्रावक के 12 व्रतों का विस्तृत वर्णन प्राप्त होगा।

मुख्य-शब्द– अनुयोग, समवशरण, अणुव्रत, गुणव्रत, दिग्व्रत, देशव्रत, अनर्थदण्ड, शिक्षाव्रत, सामायिक, प्रोषधोपवास, भोगोपभोग, अतिथिसंविभाग।

प्रस्तावना– मानव जीवन को सुसंस्कारी और सभ्यता प्रदान करने वाली कोई वस्तु है तो वह धर्मोपदेश ही है। किसी भी व्यक्ति का सम्पूर्ण जीवन, आजीविका के हेतु शिक्षा, नीतियाँ, समझ-बूझ को जानने में ही व्यतीत हो जाता है। जीवन के समग्र विकास और सम्यक् आचरण को अपनाने में एकमात्र गुरुओं, माता-पिता आदि विद्वत जनों के समागम से प्राप्त हुआ उपदेश ही कार्यकारी है। उसमें भी जो अन्याय, अनीति और अभक्ष्य के पूर्णतया निषेध सहित उपदेश होता है वही सम्यक् रूप से धर्मोपदेश की श्रेणी में गिना जाता है।

यूँ तो 'नागकुमारचरित्रम्' कथा-काव्य शैली में निबद्ध है, परन्तु जिनागम में वर्णित चारों अनुयोगों में मात्र एक रूप वर्णन ही प्राप्त नहीं होता, अपितु प्रत्येक अनुयोग में अन्य तीन अनुयोगों की चर्चा भी साथ में प्रसंग-प्राप्त होती ही है। यथा– द्रव्यानुयोग के शास्त्रों में स्वरूप को समझाते हुए पुराण पुरुष के जीवन के उदाहरण उद्धृत किए जाते हैं तथा उनका आचरण भी दर्शाया जाता है। इसी प्रकार यह चरित्र ग्रन्थ प्रथमानुयोग का होने पर भी इसमें द्रव्यानुयोग (जीवादि

---

* शोधछात्रा, मार्गनिर्देशक– प्रो. धर्मचंद जैन, जैन अध्ययन केंद्र, तीर्थंकर महावीर विश्वविद्यालय, मुरादाबाद, उ.प्र. मोबाईल : 7340293991, पता : 72-ए, कृष्ण कुंज, लक्ष्मी नगर, दिल्ली-110092

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0 In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri
तत्त्वों का विवेचन), करणानुयोग (लोक-अवधारणा), चरणानुयोग (व्रतादि रूप आचरण) सभी को गर्भित किया है।

पण्डित धर्मधर द्वारा रचित 'नागकुमारचरित्रम्' में तीर्थंकर-देशना स्वरूप प्रथम परिच्छेद में महावीर प्रभु के समवशरण में गौतम स्वामी की उपस्थिति में राजा श्रेणिक के निमित्त से उपदेश की प्राप्ति हुई, जिसमें त्रिलोक की अवधारणा, असंख्यात द्वीप-समुद्र, जम्बूद्वीप, भरत क्षेत्रादि का वर्णन, अष्टप्रातिहार्य, अष्टमंगल द्रव्य से सुशोभित समवशरण, सात तत्त्व, छह द्रव्य, नव पदार्थ, रत्नत्रय का स्वरूप तथा अणुव्रत, गुणव्रत, शिक्षाव्रत रूप श्रावक के 12 व्रतों का विस्तृत वर्णन प्राप्त होता है।

कविवर धर्मधर ने श्रावकधर्म की चर्चा प्रथम परिच्छेद में 69 वें से 72वें श्लोक पर्यंत इसप्रकार बताई है–

अहिंसा सत्यमस्तेयं ब्रह्मचर्यपरिग्रहे:।
सम्यक्त्वपूर्वकं पाल्यं श्रावकैर्व्रतपंचकम्॥ 69॥
दिग्देशविरति: पाल्यानर्थदंडश्चकीर्तितत:।
गुणव्रतत्रयं भूप पालनीयं सुशिवार्थिभि:॥ 70॥
सामायिकं प्रोषधोपवासो भोगोपभोगयो:।
संख्यातिथे: संविभाग: शिक्षाव्रतचतुष्टयम्॥ 71॥
इति द्वादशधा भूप व्रतं प्रोक्तं जिनागमे।
श्रावकै: प्रतिपाल्यं हि मोक्षसौख्यफलाप्तये॥ 72॥

अर्थ– अहिंसा, सत्य, अस्तेय (अचौर्य) ब्रह्मचर्य पालन सहित, परिग्रह से विरक्ति सहित, श्रावक के पाँच अणुव्रत सम्यक्त्व पूर्वक पालन करने योग्य हैं। दिग्व्रत, देशव्रत और अनर्थदण्ड व्रत नाम से प्रसिद्ध तीन गुणव्रत हे राजन्! उत्तम मोक्षार्थी जन द्वारा पालनीय हैं। सामायिक, प्रोषधोपवास, भोगोपभोगपरिमाण और अतिथिसंविभाग नाम के चार शिक्षाव्रत मुनिव्रत की सीख सीखने के लिए हैं। उक्त बारह प्रकार के व्रत जिनागम में कह गए हैं। हे राजन्! मोक्षसुख के फल की प्राप्ति के लिए श्रावकों द्वारा प्रतिपालन योग्य हैं।

श्रावक के अनुपालनीय बारह व्रत में प्रथम अहिंसाणुव्रत की चर्चा 73-74वें श्लोक में इस प्रकार है–

देहिनो द्विविधा ज्ञेयास्त्रसस्थावरभेदत:।
रक्षणीयास्त्रसा राजनि छद्भि: प्रथमं व्रतं॥ 73॥
इतरेष्वपि जीवेषु न कर्त्तव्यं निरर्थकं।
हिंसनं करुणाधारै: स्वर्गमुक्तिसुखाप्तये॥ 74॥

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

अर्थ– देही (देहधारी संसारी जीव) त्रस और स्थावर के भेद से दो तरह के जानने योग्य हैं। हे राजन्! त्रस जीव रक्षणीय हैं– यह पहला अहिंसा व्रत है। करुणाधारक जीवों को स्वर्ग-मोक्षसुख की प्राप्ति के लिए अन्य स्थावर जीवों के प्रति भी निरर्थक-निष्प्रयोजन हिंसा नहीं करना चाहिए।

सत्याणुव्रत का कथन 75वें श्लोक में मिलता है–

लाघवं जन्यते येन म्लेच्छैरपि विनिंद्यते।
तदसत्यं वचो नैव वक्तव्यं व्रतकांक्षिभि:।। 75।।

अर्थ– व्रत के आकांक्षी जीवों के लिए जो लघुता–हीनता उत्पन्न करता है, म्लेच्छ जनों द्वारा भी निंदनीय है– ऐसा असत्य वचन नहीं बोलना चाहिए।

76वें श्लोक में अचौर्याणुव्रत का स्वरूप प्राप्त है–

अदत्तं तु परद्रव्यं न ग्राह्यं जातु मानवै:।
निर्माल्यमिव तत्त्याज्यं संसारभयभीतुभि:।। 76।।

अर्थ– संसार से भयभीत जन को अदत्त (बिना दिया हुआ) परद्रव्य ग्रहण नहीं करना चाहिए। उसे तो निर्माल्य सामान त्याज्य जानकर ग्रहण नहीं करना चाहिए।

नरक के द्वारस्वरूप अब्रह्ममयी कुशील अवस्था को सर्वदा त्याज्य करके, आत्मीक ब्रह्मचर्याणुव्रत को ग्रहण करने हेतु इस प्रकार कथन प्राप्त है–

अमुत्र जायते दु:खं सर्वस्वहरणादिकं।
मृत्वा तु नरकं घोरं संप्राप्नोति न संशय:।। 77।।
दुर्गत: परिपंथान: परिघा: स्व: कपाटयो:।
परदारा: सदा त्याज्या: स्वदाराव्रतरक्षता।। 78।।
विज्ञेया: सकला रामा मातृ स्वसृ सुता: समा:।
स्वर्गापवर्ग सौख्यानि वांछद्भि: श्रावकै: सदा।। 79।।

अर्थ– इस भव में भी दुख प्राप्त होता है, राजादि द्वारा सर्वस्व ग्रहण कर लिया जाता है और मर कर घोर दुखमयी नरक को प्राप्त होता है, इसमें कोई संशय नहीं है। दुर्गति के सम्पूर्ण मार्ग को प्राप्त कराने वाला, नरक के दरवाजे खोलने के लिए गदा के समान परस्त्री सदा ही त्यागने योग्य है। यह स्वदार (स्वस्त्री) संतोष व्रत से रक्षित है। स्वर्ग और अपवर्ग अर्थात् मोक्ष सुख के अभिलाषी श्रावकों को सदा सम्पूर्ण स्त्रियों को माता, बहन और पुत्री समान समझना चाहिए।

परिग्रहपरिमाणव्रत का वर्णन 80वें श्लोक में कहा गया है–

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

धनं धान्यं गृहं क्षेत्रं द्विपदं च चतुष्पदं।
सर्वं परिमितं कार्यं शृणु श्रेणिक भूपते ।। 80 ।।

अर्थ– हे श्रेणिक राजन्! धन, धान्य, गृह, क्षेत्र, द्विपद और चतुष्पद आदि सभी परिग्रहों को परिमित (मर्यादित) करना चाहिए ।। 80 ।।

अणुव्रत के धारी उत्कृष्ट आचरणवंत जीवों की उपलब्धियों का वर्णन 81वें श्लोक में बताया गया है–

स्त्रिदशाः किंकरास्तस्य कल्पवृक्षः करे स्थितः।
निधयो मंदिरे तस्य संतोषो यस्य निश्चलः।। 81 ।।

अर्थ– जिसका सन्तोष परिणाम निश्चल है, उनके स्त्रियाँ तथा परिस्थितियाँ सेवक हो जाते हैं, कल्पवृक्ष ही मानो हाथ में स्थित हो जाता है, निधियाँ उनका घर बन जाती हैं ।। 81 ।।

अणुव्रतों के रक्षण और उनमें अभिवृद्धि रूप व्रत जिन्हें गुणव्रत नाम दिया गया है, ऐसे गुणव्रतों में प्रथम दिग्व्रत का स्वरूप 82वें श्लोक में आया है–

यत्काष्टासु समस्ता सुविधायावधिमुत्तमैः।
ततः परं न गंतव्यं प्रथमं तद्गुणव्रतं ।। 82 ।।

अर्थ– जिन उत्तम पुरुषों ने आठों ही दिशाओं में समस्त सुविधाओं की मर्यादा कर ली है, उन्हें उससे बाहर न जाना चाहिए– यह दिग्व्रत नाम का गुणव्रत है।

इसके बाद देशव्रत नामक गुणव्रत का वर्णन किया गया है–

तथा देशावधिं कृत्वा गंतव्यं न दिवा निशं।
ततः परं बुधैः प्रोक्तं द्वितीयं तद्गुणव्रतं ।। 83।।

अर्थ– दिग्व्रत में ली हुई सदाकालीन मर्यादाओं को और अधिक क्षेत्रगत मर्यादित करना, उससे बाहर दिन और रात में भी नहीं जाना, दूसरा देशव्रत नाम का गुणव्रत कहा गया है।

तृतीय गुणव्रत अनर्थदण्डत्याग का कथन 84वें श्लोक में इस प्रकार किया–

पंचधानर्थदंडस्य धर्मस्यानुपकारिणः।
संग्रहो नैव कर्तव्यस्तृतीयं तद्गुणव्रतं ।। 84 ।।

1. अपध्यान, 2. पापोपदेश, 3. प्रमादचर्या, 4. हिंसादान, 5. दुःश्रुति– इन पाँच प्रकार के धर्म के अनुपकारी-शत्रुओं का ग्रहण कदापि नहीं करना, ये तीसरा अनर्थदण्डत्याग नाम का गुणव्रत है।

महाव्रतों के अभ्यास रूप व्रतों को शिक्षाव्रत नाम से अभिहित करते हैं, जिसमें

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

प्रथम सामायिक शिक्षाव्रत का वर्णन 85 वें श्लोक में इस प्रकार है–

यत्साम्यं सर्वसत्त्वेषु शासने भावना शुभा।
पूर्वध्यानद्वयं त्यक्त्वा कुर्यात्सामायिकं बुध:॥ 85॥

अर्थ– पूर्ववर्ती आर्तध्यान और रौद्रध्यान दोनों को छोड़कर सर्व जीवमात्र के प्रति साम्यभाव और जिनशासन के प्रति शुभ भावना सम्पन्न होकर ज्ञानी जीव को सामायिक नाम का प्रथम शिक्षाव्रत पालना चाहिए।

कषाय, विषय और आहार का त्यागकर आत्मस्वभाव के समीप ठहरना उपवास है। नागकुमारचरित्र में द्वितीय शिक्षाव्रत प्रोषधोपवास का स्वरूप इसी प्रकार वर्णित किया गया है–

चतु: प्रकारमाहारं परित्यज्य यथाक्रमं।
उपवासं प्रकुर्वीत भक्त्या पर्व चतुष्टये॥ 86॥

अर्थ– यथाक्रम से चारों प्रकार के (खाद्य, स्वाद्य, लेह्य, पेय) आहार का त्यागकर भक्तिपूर्वक अष्टमी द्वय और चतुर्दशी द्वय रूप चारों पर्वों का उपवास करना प्रोषधोपवास नाम का द्वितीय शिक्षाव्रत जानना चाहिए।

87वें श्लोक में तन्द्रा (प्रमाद) से रहित व्यक्ति (श्रावक) का भोगादि में सीमा बाँधकर, व्रतादि सहित आचरण रूप भोगोपभोगपरिमाण व्रत बताया–

कार्यं भोगोपभोगानां परिमाणमतंद्रितै:।
आहारौषधशास्त्राणां दानं चाभयमुत्तमम्॥ 87॥

अर्थ– अतन्द्रित (सावधान) जीव को भोग और उपभोग का परिमाण (मर्यादा) करके आहार, औषध, शास्त्र (ज्ञान) और अभय रूप उत्तमदान करना चाहिए, यह भोगोपभोगपरिमाण नाम का तृतीय शिक्षाव्रत है।

सत्पात्रों को अपने भोजन में से विभाग करके विधिपूर्वक दान देना अतिथिसंविभाग नामक चौथा शिक्षाव्रत है–

अतिथे: संविभागश्च मध्याह्न समये नृप।
पालनाय सदा भव्यैरनंतसुखलब्धये॥ 88॥

अर्थ– हे राजन्! मध्याह्न समय में अतिथि के लिए संविभाग करना भव्य जीवों के अनंत सुख की प्राप्ति के लिए सदा ही पालना चाहिए, यह अतिथिसंविभाग नाम का चौथा शिक्षाव्रत है।

जैनी व्यक्ति के तीन प्रमुख चिह्न तथा त्याज्य आदतों का विशिष्ट वर्णन कवि धर्मधर ने इसप्रकार किया है–

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

वस्त्र पूतं पिवेत्तोयं हेयं वासरमैथुनं।
द्यूतादि व्यसनं वार्यं न कार्यं रात्रिभोजनं ॥ 89 ॥

अर्थ– वस्त्र (कपड़े) से पवित्र (छना हुआ) जल पीना चाहिए, दिन में मैथुन त्याज्य है, जुआ आदि व्यसन छोड़ना चाहिए और रात्रिभोजन नहीं करना चाहिए।

उपसंहार– महत् पुरुषों के द्वारा प्राप्त सत् मार्गदर्शन ही धर्मोपदेश की श्रेणी में आता है। ऐसी धर्मचर्चा का वर्णन करते हुए, कवि धर्मधर ने महाकवि पुष्पदंतकृत 'णायकुमारचरिउ' को आधारभूत मानकर 'नागकुमारचरित्रम्' की रचना की है। जिसमें उद्धृत समवशरण की अद्‌भुत व्यवस्थित रचना, अष्टप्रातिहार्य, अष्टमंगल द्रव्य से सुशोभित समवशरण का वर्णन मिला। साथ ही सात तत्त्व, छह द्रव्य, नव पदार्थ, रत्नत्रय का स्वरूप वर्णन जाना। अणुव्रत, गुणव्रत, शिक्षाव्रत रूप श्रावक के 12 व्रतों की चर्चा भी प्राप्त हुई।

संदर्भ ग्रन्थ-

1. तत्त्वार्थसूत्र– रामजी भाई माणकचंद दोशी कृत टीका, श्री दिगम्बर जैन स्वाध्याय मन्दिर ट्रस्ट, सोनगढ़, गुजरात
2. नागकुमारचरित्रम्– पण्डित धर्मधर (पाण्डुलिपि), श्री दिगम्बर जैन मंदिर महासंघ, जयपुर, रचनाकाल 1598
3. नागकुमारचरित्रम्– पण्डित धर्मधर (पाण्डुलिपि), श्री दिगम्बर जैन मंदिर महासंघ, जयपुर, रचनाकाल 1596
4. नागकुमारचरित्रम्– पण्डित धर्मधर (पाण्डुलिपि) 2015, 325776. Ath Naagkumar.PDF
5. नागकुमारचरित्रम्– पण्डित धर्मधर (पाण्डुलिपि) Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra (AKGM) 0126026 nagakumara caritra www.kobatirth.org रचनाकाल 1595
6. पुरुषार्थसिद्ध्युपाय– श्रीमद् अमृतचन्द्राचार्य विरचित, भाषाटीका आचार्यकल्प पण्डित टोडरमल कृत, सम्पादन ब्र. यशपाल जैन, प्रकाशक– पण्डित टोडरमल स्मारक ट्रस्ट, जयपुर (अष्टम संस्करण जुलाई, 2010)
7. रत्नकरण्ड श्रावकाचार– स्वामी समन्तभद्र आचार्य, हिन्दी टीकाकार (ढूंढारी भाषा)– पं सदासुख कासलीवाल, प्रकाशक सदासुख ग्रन्थमाला श्री वीतराग विज्ञान स्वाध्याय मंदिर ट्रस्ट, पुरानी मण्डी, अजमेर, (चतुर्थ आवृत्ति, सितम्बर, 2000)
8. वीतराग-विज्ञान पाठमाला, भाग 3, सम्पादक– डॉ. हुकमचन्द भारिल्ल, प्रकाशक– सौभागमल पाटनी फैमिली चैरिटेबल ट्रस्ट, बम्बई (बारहवाँ संस्करण, जुलाई 2006)
9. वसुनन्दि श्रावकाचार– आचार्य वसुनन्दि, व्याख्याकार– सुनीलसागर मुनि, सम्पादक– प्रो. भागचन्द्र जैन, प्रकाशन– पार्श्वनाथ विद्यापीठ, वाराणसी (प्रथम संस्करण, 1999)
10. सागार धर्मामृत– पण्डितप्रवर आशाधर, प्रकाशन– भारतीय ज्ञानपीठ, नई दिल्ली❖❖

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

समाचार दर्शन

शाहदरा में पंचकल्याणक प्रतिष्ठा महोत्सव

22 नवंबर 2024 शाहदरा। यहाँ दिल्ली के छोटा बाजार का 224 वर्ष प्राचीन अतिशययुक्त श्री 1008 पार्श्वनाथ दिगम्बर जैन मंदिर का पंचकल्याणक महामहोत्सव परमपूज्य सिद्धान्तचक्रवर्ती विद्यानन्दजी मुनिराज के परम प्रभावक निर्यापक पट्टाचार्य शिष्य आचार्य श्री श्रुतसागरजी मुनिराज ससंघ, आचार्य श्री 108 सुबलसागरजी महाराज ससंघ एवं मुनिश्री 108 अनुमानसागरजी महाराज ससंघ के पावन सान्निध्य में प्रतिष्ठाचार्य पं. श्री नरेश कुमार जैन कांसल, पं. श्री सुगंध जैन शास्त्री जी के सरल निर्देशन में, संगीतकार रामकुमार जैन एंड पार्टी भोपाल की संगीतमयी स्वरलहरियों पर भक्ति करते हुए सम्पन्न हुए। यह पंचकल्याणक प्रतिष्ठा महामहोत्सव 16 नवंबर से 21 नवम्बर 2024 तक भक्ति एवं आनंद के साथ अयोध्या नगरी, डीएवी स्कूल, शंकर नगर में सम्पन्न हुआ।

पंचकल्याण प्रतिष्ठा महोत्सव के प्रमुख पात्र– माता-पिता– श्री महेश-शशि जैन (गज्जू कटरा), सौधर्म इंद्र-शचि इन्द्राणी– श्री मनोज-रूबी जैन (ऋषभ विहार), धनपति कुबेर– श्री अरुण-अनीता जैन (भोलानाथ नगर), महायज्ञ नायक– श्री विभोर-शैफाली जैन (अनाज मंडी), ईशान इंद्र– श्री प्रकाश चंद्र-सुधा जैन, सानत इंद्र– श्री श्रेयांश-शालु जैन, माहेंद्र इंद्र– श्री सचिन-सोनिया जैन, ब्रह्मोत्तर इंद्र– श्री अंकित सीए-साक्षी जैन सीए (शांति विहार), ब्रह्म इंद्र– श्री सुनील-बबिता जैन, लांवत इंद्र– श्री अमित-आरती जैन (तेलीवाड़ा), कापिष्ठ इंद्र– श्री सुमेरचंद्र-मधु जैन (तेलीवाड़ा), शुक्र इंद्र– श्री अनिल सुमन जैन (युधिष्ठिर गली), महा शुक्र इंद्र– श्री सुनील-ममता जैन (भोलानाथ नगर), सतार इंद्र– श्री सुशील-सुषमा जैन (जयपुर वाले), सहस्रार इंद्र– श्री सौरभ शिल्पी जैन (गज्जू कटरा), आणत इंद्र– श्री अमन-रुचि जैन (अनाज मंडी), आरण इंद्र– श्री संजय-प्रतिभा जैन, प्राणत इंद्र– श्री मामचंद्र-उर्मिला जैन, अच्युत इंद्र– श्री राजीव रंजन जैन (कृष्णा नगर), भगवान की बुआ– श्रीमती शालिनी जैन धर्मपत्नी हिमांशु जैन (बलवीर नगर) ने बनने का सौभाग्य प्राप्त किया। ❖❖

भगवान महावीर जन्मस्थली बासोकुंड में तीन दिवसीय कार्यक्रम का हुआ समापन

हाजीपुर, वैशाली। वैशाली के ऐतिहासिक भगवान महावीर जन्म स्थली बासोकुंड में चल रहे तीन दिवसीय कार्यक्रम का समापन गुरुवार को हो गया। कार्यक्रम के अंतिम दिन सुबह में भगवान का अभिषेक, शांतिधारा एवं सामूहिक

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0 In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri
पूजन किया गया तथा दोपहर में मानस्तंभ की वेदी में श्रीजी को विराजमान किया गया। उक्त कार्यक्रम में पटना, दिल्ली, मुजफ्फरपुर, वाराणसी समेत देश के विभिन्न भागों से जैन समुदाय के लोगों ने भाग लिया। नव प्रतिष्ठित मानस्तंभ पर भगवान को विराजमान करने के बाद प्रतिष्ठाचार्य नरेश जैन ने हवन कराया। इस प्रकार आचार्य विद्यानन्दजी महाराज की चरण छत्री की स्थापना के साथ तीन दिवसीय कार्यक्रम श्रद्धापूर्वक समाप्त हो गया। पूछे जाने पर भगवान महावीर समिति के कार्याध्यक्ष मुकेश जैन ने बताया कि उक्त कार्यक्रम में दिल्ली से भगवान महावीर स्मारक समिति के मुख्य संरक्षक साहू अखिलेश जैन, अध्यक्ष राजकुमार जैन, वरीय उपाध्यक्ष राकेश जैन, महामंत्री सतीश चन्द जैन (SCJ), सहमंत्री सरिता जैन, जन्मभूमि आर्किटेक्ट अक्षय जैन, अर्जुन जैन, दिलीप जैन, कुसुम पांड्या सहित सैकड़ों जैन धर्मावलम्बियों ने भाग लिया। ❖❖

श्री दिगंबर जैन लाल मंदिर में वेदी शिलान्यास समारोह संपन्न

नई दिल्ली। श्री दिगंबर जैन लाल मंदिर चाँदनी चौक में परमपूज्य सिद्धान्तचक्रवर्ती विद्यानन्दजी मुनिराज के परम प्रभावक निर्यापक पट्टाचार्य शिष्य आचार्य श्री श्रुतसागरजी मुनिराज की पावन प्रेरणा एवं मंगल आशीर्वाद से एवं आचार्य श्री सौरभ सागरजी, मुनिश्री जयकीर्तिजी एवं मुनिश्री अनुमान सागरजी महाराज के सान्निध्य में 25 नवंबर, 2024 को नवीन वेदी का शिलान्यास समारोह पंडित धर्मचंद जैन शास्त्री के निर्देशन में विधि-विधानपूर्वक भव्यता से संपन्न हुआ। इस अवसर पर संतों ने लाल मंदिर का ऐतिहासिक महत्त्व बताते हुए सम्यक दर्शन-ज्ञान और चरित्र को ही मोक्ष प्राप्ति का श्रेष्ठ मार्ग बताया। शिलान्यास समारोह में दीपक जैन (लाइट वाले), राजेश जैन (साड़ी वाले), मुल्तान जैन समाज (दिल्ली), डिप्टीमल जैन कागजी परिवार आदि का विशेष सहयोग रहा।

इस अवसर पर जैन समाज दिल्ली के अध्यक्ष श्री चक्रेश जैन, मंदिर मैनेजर पुनीत जैन, जिनराज जैन, न्यायाधीश सुभाष जैन, स्वदेश भूषण जैन, जिनेंद्र जैन (कूचांसेठ), पी.के. जैन, कुलदीप जैन, एडवोकेट अतुल जैन (हाईकोर्ट), नीरज जैन, प्रवीन जैन (सांध्य महालक्ष्मी), एडवोकेट रमेश जैन (नवभारत टाइम्स), पं. दीपक जैन शास्त्री आदि सहित सैंकड़ो गणमान्य व्यक्ति उपस्थित थे। सभी ने शिलाएँ स्थापित की। समारोह में हजारों श्रद्धालुओं ने भाग लिया। इस वेदी का पंचकल्याणक प्रतिष्ठा महोत्सव फरवरी-मार्च में आयोजित किया जाएगा। जिसकी तैयारियाँ जोर-शोर से चल रही हैं। इन नवीन वेदी में 1947 में मुल्तान जैन समाज द्वारा पाकिस्तान से लायी गई 24 प्रतिमाएँ, डिप्टीमल जैन चैत्यालय की 13 प्रतिमाएँ तथा 24 नई प्रतिमाएँ प्रतिष्ठा के बाद विराजमान की जाएगी। समारोह लालकिला

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

के सामने भव्य और विशाल पंडाल में होगा। ❖❖

जंक फूड छोड़ो जैन फूड खाओ : आचार्य श्रुतसागर मुनिराज

कुन्दकुन्द भारती। 5 नवम्बर, 2024 अष्टाह्निका महापर्व की पूर्व बेला पर यहाँ परमपूज्य आचार्यश्री श्रुतसागरजी मुनिराज के पावन सान्निध्य में श्रीमती शिल्पा जैन, सर्वोदय एन्क्लेव की ओर से एकदिवसीय सिद्धचक्र विधान का भव्य आयोजन किया गया। सभी विधि-विधान पंडित जीतू भैया द्वारा सम्पन्न कराए गए। इस अवसर पर पूज्य आचार्यश्री ने एक महत्त्वपूर्ण सन्देश सम्पूर्ण जनता को दिया कि हमें आहार-विज्ञान को भलीभाँति समझना चाहिए और उसका पालन भी करना चाहिए, इससे हमारा तन-मन-जीवन सुन्दर बनता है। उनके सम्पूर्ण प्रवचन का शीर्षक रहा– जंक फूड छोड़ो, जैन फूड खाओ। ❖❖

जैन धर्म एवं प्राकृत सर्टिफिकेट पाठ्यक्रम में प्रवेश लें

दिगम्बर जैन अतिशय क्षेत्र श्री महावीरजी द्वारा संचालित जैनविद्या संस्थान, जयपुर के अंतर्गत "पत्राचार जैनधर्म-दर्शन एवं संस्कृति सर्टिफिकेट पाठ्यक्रम 2025" तथा "पत्राचार प्राकृत सर्टिफिकेट पाठ्यक्रम एवं अपभ्रंश सर्टिफिकेट पाठ्यक्रम 2025" में प्रवेश प्रारम्भ हो गये हैं। आवेदन-पत्र व नियमावली निम्नलिखित वेबसाइट से प्राप्त करें– jvs.jainapa.org, pra.jainapa.org, apa.jainapa.org शुल्क सहित आवेदन पत्र कार्यालय में पहुँचने की अन्तिम तिथि 28 फरवरी, 2025 होगी। सम्पर्क : निदेशक, अपभ्रंश साहित्य अकादमी, 5-6, संस्थानिक क्षेत्र (इंस्टीट्यूशनल एरिया) गुरुनानक पथ, हरि मार्ग, मालवीय नगर, जयपुर-302017 ई-मेल : jainapa@rediffmail.com ❖❖

प्रमेयकमलमार्तण्ड ग्रंथ पर राष्ट्रीय कार्यशाला

वाराणसी (उ.प्र.) भारतीय दार्शनिक अनुसंधान परिषद, नई दिल्ली एवं पार्श्वनाथ विद्यापीठ, वाराणसी द्वारा काशी में दस दिवसीय (20-29 सितंबर 2024) जैन न्याय के वृहद् एवं दुरूह ग्रंथ प्रमेयकमलमार्तण्ड के पंक्तिशः स्वाध्याय के लिए एक महत्त्वपूर्ण कार्यशाला का आयोजन किया गया। इस कार्यशाला में प्रतिदिन 6 घंटे लगातार स्वाध्याय हुआ। इसमें अध्ययन हेतु विभिन्न विश्वविद्यालयों में कार्यरत प्रोफेसर, शोधार्थी, अध्येता लगभग 50 प्रतिभागियों ने भाग लिया। इसमें अध्यापन हेतु देश के अनेक निष्णात न्याय विद्वानों को चुना गया। यथा– प्रो. श्रीयांश सिंघई, जयपुर, प्रो. धर्मचन्द जैन, जोधपुर, प्रो. वीरसागर जैन, नई दिल्ली, प्रो. अनेकांत कुमार जैन, नई दिल्ली, प्रो. योगेश जैन, भोपाल आदि। ❖❖

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

निर्यापक पट्टाचार्य परमपूज्य आचार्य श्री श्रुतसागरजी मुनिराज के सान्निध्य में सम्पन्न हुए पंचकल्याणक महोत्सव
विश्वास नगर, शाहदरा, दिल्ली

'त्रिलोक तीर्थक्षेत्र बड़ा गांव' उ.प्र. पंचकल्याणक प्रतिष्ठा महोत्सव', की झलकियाँ

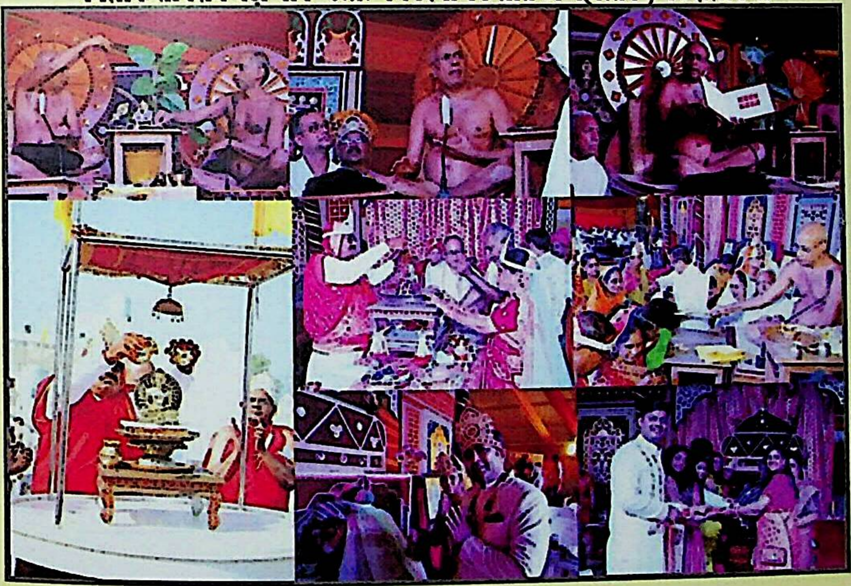

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

भारत सरकार पंजीयन संख्या DELHIN/2007/22991

भगवान महावीर जन्मस्थली वासोकुंड में तीन दिवसीय कार्यक्रम के समापन की झलकियाँ

शारदा विश्वविद्यालय, ग्रेटर नोएडा ने अपने स्थापना दिवस के अवसर पर, 16 दिसंबर, 2024 को जैन धर्म के क्षेत्र में उल्लेखनीय योगदान के लिए श्री लाल बहादुर शास्त्री राष्ट्रीय संस्कृत विश्वविद्यालय, नई दिल्ली में जैन दर्शन के प्रो. वीरसागर जैन और प्रो. अनेकांत जैन को सम्मानित किया।

If undelivered, Please return to

KUND KUND BHARTI

18-B, Special Institutional Area,
New Delhi-110067
Phone : 011-46062191, 46062192
E-mail : kundkundbharti@gmail.com
www.kundkundbharti.org

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi